वाग्भटालङ्कार का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतिकर्त्री

रागिनी त्रिपाठी

सस्कृत विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

निर्देशक

प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय

सस्कृत विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद

१९९२

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

"इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।।"

दण्डी-काव्यादर्श-1/4

शब्द को जगद्-व्यवहार का आधार स्वीकार किया गया है, क्योंकि शब्दाश्रित ही गुरु-शिष्योपदेश परम्परा एवम् पारस्परिक व्यवहार है । तथापि वाग्वैदग्ध्य एवम् चारुता प्रदर्शनार्थ काव्यशास्त्र में अलङ्कार का महत्वपूर्ण स्थान है ।

संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार को गौरवमय एवं समृद्ध बनाने में काश्मीर के बाद गुर्जर प्रदेश का विशेष महत्वपूर्ण योगदान रहा है । गुर्जर प्रदेश में "अणहिलपट्टन" नामक प्रसिद्ध राज्य ने संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान दिया । साहित्य समृद्धि के क्षेत्र में यहाँ जैनों का विशेष महत्व-पूर्ण स्थान रहा है । 11वीं से 13वीं शताब्दी तक प्रायः दो सौ वर्ष पर्यन्त "अणहिल पट्टन" का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर रहा ।

वाग्भटालङ्कार के रचयिता आचार्य वाग्भट प्रथम इसी विद्वज्जन सेवित एव प्रगतिशील राज्य की विभूति थे । 12वीं शताब्दी का प्रथम अर्द्धांश इनका समय माना गया है । ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे । अतः जैन आचार्यों की परम्परा में आचार्य वाग्भट का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है । इनका काव्यालङ्कार 1125 से 1143 ई० सन् के बीच लिखा गया है ।

प्रथम वाग्भट प्रणीत "वाग्भटालङ्कार" यह ग्रन्थ के० एम० सीरीज 1.93 में सिंहदेव गणि की टीका सहित प्रकाशित हुआ है ।। यह ग्रन्थ विस्तृत [illegible]त्मक नहीं है ।। पाँच परिच्छेदों में विभक्त है तथा इस पर बहुत सी टीकायें उपलब्ध होती हैं । यह लघु ग्रंथ होते हुए भी सारगर्भित है ।। इस ग्रन्थ में गुण, दोष, अलङ्कार एवं रस से सम्बन्धित सभी विषयों का विवेचन स्पष्ट रूप से कि गया है ।।

संस्कृत साहित्य में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त करने के बाद शोध की दिशा में प्रवृत्त होता हुआ मेरा मानस, विषय चयन को लेकर यद्यपि कुछ काल तक भ्रमित रहा । किन्तु साहित्य के प्रति अतिशय रुचि ने समस्त कठिनाइयों का स्वतः निराकरण कर साहित्य-क्षेत्र में ही शोध करने की दिशा प्रदान की । फलत, गुरुवर्य डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी के समक्ष अपनी भावनायें व्यक्त करते हुए उनसे अपना शोध निर्देशक बनाने हेतु अनुरोध किया, जिसे उन्होंने न केवल सहज रूप से मुझे अनुमति प्रदान की, अपितु मेरे प्रिय विषय साहित्य के अभिन्न अङ्ग अलङ्कारों पर शोध कार्य करने का निश्चय कर "वाग्भटालङ्कार का आलोचनात्मक अध्ययन" शोध विषय का निर्धारण किया ।।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की पूर्णता का सर्वाधिक श्रेय डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय जी को है, जिनके वैदुष्यपूर्ण निर्देशन में ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका ।। यथा समय उत्साह पूर्वक निर्देशन देना, जटिल विषयों को अति स्नेह पूर्वक समझाना तथा समय-समय पर शोध कार्य को अग्रसर करने की प्रेरणा देते रहना इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण है । इनके निर्देशन काल में मुझे कभी भी निराशा का

सामना नहीं करना पड़ा । परम पूज्य गुरुदेव के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक होने के अतिरिक्त मुझ शिष्या के पास और है ही क्या ।

इसके साथ ही अन्य गुरूजनों में विभागाध्यक्ष इ० वि० वि० डॉ० सुरेश च श्रीवास्तव, रीडर इ० वि० वि० डॉ० हरिशंकर त्रिपाठी तथा डॉ० रामकिशोर शास्त्री जी का भी मुझे बहुत सहयोग मिला तथा संस्कृत विभाग के सभी गुरूजनों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ जिनके आशीर्वाद और प्रेरणा का यह फल है ।

स्थानीय पुस्तकालयों में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का शोध-पुस्तकालय, गंगानाथ झा केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय में मुझे जो अध्ययन की सुविधा प्राप्त हुई एतदर्थ मैं यहाँ के समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ।

मैं उन समस्त विद्वानों की ऋणी हूँ, जिनकी पुस्तकों से मैंने अध्ययन एवं विषय संकलन किया है ।

मैं अपने उन समस्त वरिष्ठ, कनिष्ठ एवं सहपाठी मित्रों का आभार मानती हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता में यत्किंचत् भी सहयोग किया है ।

माता-पिता तथा अनुज भाई-बहनों ने सहयोग एवं सद्भावना का अमूल्य योगदान दिया । समय-समय पर शोध कार्य में अपेक्षित सामग्री उपलब्ध कराना, निराशा के क्षणों में उत्साह पूर्ण वचनों का सम्बल प्रदान करना, शोध कार्य की आवश्यकता एवं महत्ता का प्रतिपादन करना तथा शोध कार्य को पूर्ण करने हेतु

उत्साहित करना, ये सभी ऐसे महत्त्वपूर्ण सहयोग है, जिनके अभाव में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का पूर्ण होना संभव न था। इन सबके सम्मिलित सहयोग के प्रति धन्यवाद ज्ञापन की औपचारिकता दिखाना इनके महत्त्व को न्यून करना ही होगा।

अन्त में मैं शुद्ध एवं स्वच्छ टंकण के लिए यज्ञ नारायण यादव जी को साधुवाद देती हूँ जिनके अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप शोध प्रबन्ध साकार रूप धारण कर सका।

ज्ञान बिन्दु की यह लघु परिणति सदसद् विवेक विज्ञ-वृन्द के सम्मुख प्रस्तुत है। त्रुटियों में परिमार्जन सुधी जनों से अपेक्षित है।

दिनांक 1992

शोध छात्रा
रागिनी त्रिपाठी
रागिनी त्रिपाठी
संस्कृत विभाग

रचयिता एव रचनाकाल

भारतीय साहित्य में वाग्भट नाम के अनेक विद्वानों के नाम मिलते हैं, किन्तु उनमें से सस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में दो वाग्भट हुए । प्रथम तो "वाग्भटालङ्कार" के रचयिता तथा द्वितीय "काव्यानुशासन" और उसकी वृत्ति अलङ्कार तिलक के रचयिता है । Eggeling ने दोनों को भ्रम वश एक ही स्वीकार किया है, किन्तु "वाग्भटालङ्कार " से ज्ञात होता है कि "वाग्भट प्रथम जैन थे । इनका नाम "बाहड" या "बाहड" (प्राकृत) इस रूप में मिलता है । यह किसी राजा के मन्त्री थे इनके पिता का नाम सोम था ।[1]

इसके अतिरिक्त "काव्यानुशासन" की भूमिका में तथा उसकी टीकाओं के द्वारा ज्ञात होता है, कि द्वितीय वाग्भट" के पिता का नाम "नेमिकुमार" और माता का नाम महा (मही) देवी अथवा वसुधरा था । उनका जन्मस्थान राहडपुर था ।[2] राहडदेव मन्दिर होने के कारण नगर का भी यही नाम पडा । आचार्य वाग्भट द्वितीय ने "काव्यानुशासन" में आचार्य वाग्भट प्रथम के गुणों का उल्लेख किया है ।[3]

1· ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिकमणे· प्रभासमूह इव
श्री बाहड़ इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ।
बम्भण्डसुक्तिसम्पु5मुक्तिअमणिणो पहासमूह व्व ।
सिरिवाहड क्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ।
4/147 वाग्भटालङ्कार

2 पृ0 । वृत्ति काव्यानुशासन

3· इति दण्डी, वामन,वाग्भटादि प्रणीता दशकाव्यगुणा
वय तु माधुर्योज: प्रसाद लक्षणा स्त्रीणेव गुणान्मन्यामहे ।

वाग्भटालङ्कार के रचयिता आचार्य "वाग्भट प्रथम" ने " नेमिनिर्वाण" काव्य के छठे सर्ग के तीन पद्य- "कान्तारभूमौ" "जुहुर्वसन्ते" और "नेमिर्विशाल नयनो" आदि 46, 47 और 51 न० के पद्य "वाग्भटालङ्कार" में चतुर्थ परिच्छेद के 34,39 और 32 न० पर वाग्भट ने स्वीकार किया है, और सातवें सर्ग का "वरणा. प्रसून निकरा" आदि 26 न० का पद्य चतुर्थ परिच्छेद के 40 न० पर उपलब्ध होता है।[1] अत स्पष्ट है कि "नेमिनिर्वाण-काव्य" के कर्ता "कवि वाग्भट" वाग्भटालङ्कार के रचयिता से पूर्ववर्ती है । सम्भवत. इनका समय 11वीं शताब्दी स्वीकार किया गया है । इनका जन्म अहिच्छत्रपुर में हुआ था, पिता का नाम छाहड़ और कुल प्राग्वाट (पोरवाड़) था । इन्होंने अपना परिचय नेमिनिर्वाण काव्य के अन्तिम पद्य में किया है ।[2]

---

1. कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां तारवाचः क्षमते स्म सोढुम् ।
   कान्ता रतेशोऽध्वनि वर्तमाने कान्तारविन्दस्य मधो. प्रवेशे ।।
   जुहुर्वसन्ते सरसीं न वारणा बभु पिकाना मधुरा- 34
   नव रणा. ।
   रस नं का मोहनकोविदार क विलोकयन्ती बकुलात्त्विदारकम् । 39
   नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूय. ।
   प्राप्तस्तदाजनगरान्नगराजि तत्र स्नातेन वारु जगदे जगदेकनाथ: ।। 32
   वरणा: प्रसूननिकरावरणा मलिना वहन्ति पटलीनलिनाम् ।
   तरव सदात्र शिरिवजातरव. सरसश्च भाति निकटे सरस. ।। 40
   (वाग्भटालङ्कार - वाग्भट)

2. अहिच्छत्र पुरोत्पन्न: प्राग्वाटकुलशालिन. ,
   छाहडस्य सुतश्चक्रे प्रबन्ध वाग्भट. कवि. ।।

   नेमिनिर्वाण काव्य - 87

आयुर्वेद शास्त्र के लेखक सिंह गुप्त के पुत्र वाग्भट इन दोनों से भिन्न हैं ।

"वाग्भट प्रथम" हेमचन्द्र के समकालीन थे तथा अणहिल्ल-पट्टन के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के सरक्षण में रहे । जयसिंह का समय 1093 से 1143 ई0 के बीच का है । जिनवर्धन सूरि तथा सिंहदेवगणि की टीकाओं से स्पष्ट है कि अणहिल्ल पट्टन नरेश कर्णदेव के पुत्र जयसिंह थे । वाग्भटालङ्कार सिंहदेवगणि की टीका के अनुसार चतुर्थ परिच्छेद के 147 वें श्लोक से स्पष्ट है कि उपर्युक्त राजा के महामात्य थे ।[1]

प्रभाचन्द्र सूरि के "प्रभावकचरित" पृ0 205 के अन्तर्गत विवरण से इस कथन का स्पष्टी करण होता है कि वाग्भट 1123 ई0 तथा 1157 ई0 में जीवित थे । अत इस प्रकार से स्पष्ट है, कि वाग्भट का साहित्य रचना काल 12वीं शती का पूर्वार्द्ध था ।

वाग्भटालङ्कार में उदाहरण स्वरूप दिये गए श्लोकों में अणहिल्लवाड के चालुक्य वंश गत कर्ण राजा के पुत्र जयसिंह राजा का बहुत उल्लेख प्राप्त होता है ।[2]

---

1. इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कार कर्तृत्वख्यापनाय
   वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निर्दर्शयति==

   ब्राह्मण शुक्ति सम्पुटमौक्तिकमणे: प्रभासमूह इव ।
   वाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ।।

   -वाग्भट-4/147

2. इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावतेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्र ।
   दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रताप स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा । 75
   जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदो: परिघ ।
   जयति प्रतापपूषा जयसिंह. क्ष्माभृदधिनाथ: ।। 4/45

... क्रमश.

जयसिंह ने 1093 ई0 सन् से 1143 ई0 सन् तक राज्य किया, दे0आई0ए0 भाग 6 पृ0 180 अणहिल्लवाड़ चालुक्यों की तिथि सहित वंशावली पृ0 213 पर बूलर ने प्रस्तुत की है । कुमारपाल के शासन काल की बाडनगर प्रशस्ति के लिए ई0आई भाग 1 पृ0 213 प्रभाचन्द्र के "प्रभावकचरित" (पृ0 205) से के0एम0सीरिज के सम्पादक ने स्पष्ट किया है, कि वाग्भट का समय संवत 1179 और 1213 (1123 और 1156 ई0 सन्) था, अतः वाग्भट बारहवीं शताब्दी के प्रथम अर्धांश में रहे और उनका काव्यालङ्कार 1125-1143 ई0 सन् के बीच लिखा गया । सिंहदेवगणि के अतिरिक्त, जिनवर्धनसूरि, गणेश, क्षेमहंसगणि, राजहंसोपाध्याय आदि की अनेक टीकाएँ इस पर उपलब्ध होती हैं ।

प्रथम वाग्भट प्रणीत "वाग्भटालङ्कार" यह ग्रन्थ के0एम0 सीरीज (1933) से सिंहदेवगणि की टीका सहित प्रकाशित हुआ है । यह ग्रन्थ विस्तृत विवेचनात्मक

..... अणहिल्लपाटक पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ।।4/13।

इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमक्ष्णा लक्ष्मीपतिर्यदि
कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।

अतः स्यन्दनवजधृतोद्धुरताम्रचूड. श्री कर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ।। 4/80

वाग्भट

नहीं है। पाव परिच्छों में विभक्त है तथा कुल 260 श्लोक है, जो अनुष्टुप छन्द में विरचित हैं। कुछ पद्य अन्य छन्दों में भी रचे गये हैं। इसमें ओज गुण का चित्रण करने वाला एकमात्र गद्य का अवतरण है।[1]

प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण दिया गया है, उसकी उत्पत्ति का कारण प्रतिभा को स्वीकार करके प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिभाषाएँ दी गई हैं।[2] काव्यनिर्माण के लिए कौन सी परिस्थिति अनुकूल होती है तथा कवि के लिए अपनाने योग्य परम्पराओं का भी उल्लेख किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश भूतभाषा (पैशाची) इन चार भाषाओं में काव्य रचना को स्वीकार किया है। काव्य के भेद "छन्दोनिबद्ध" और "गद्यनिबद्ध" ये दो तथा "गद्य पद्य और मिश्र" ये तीन प्रकार के भेद किये गये हैं। इसके बाद पद और वाक्य के आठ दोषों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन करके अर्थ दोषों का निरूपण किया गया है। तृतीय परिच्छेद में काव्य के दस गुण और लक्षण उदाहरण-सहित दिये गये हैं। चतुर्थ परिच्छेद में चित्र, वक्रोक्ति और अनुप्रास इन शब्दालङ्कारों तथा उनके उपभेदों का 35 अर्थालङ्कारों और वैदर्भी तथा गौडीया इन दो रीतियों का विवेचन किया गया है। पंचम परिच्छेद में नौरस, नायक और नायिकाओं के भेद और तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का निरूपण है।

1· समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिर.सरस-
सिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकरतलो देव ।।
वाग्भट 3/14

2· प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ।।

वाग्भट 1/3

संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार को गौरवमय एवं समृद्ध बनाने में काश्मीर के बाद गुजरात का विशेष महत्वपूर्ण योगदान रहा है । गुजरात में "अणहिल-पट्टन" का प्रसिद्ध राज्य विद्वानों का प्रमुख आश्रय-स्थान और भारतीय वाङ्मय की सेवा एव समृद्धि में सबसे अग्रगण्य राज्य था । इस राज्य की स्थापना विक्रम स0 802(ई0 सन् 746) में हुई थी । "अणहिल-पट्टन" भारत का एक प्रमुख राज्य बना और संस्कृत-साहित्य को समृद्ध बनाने में बडा महत्वपूर्ण योगदान दिया । साहित्य समृद्ध के क्षेत्र में यहाँ जैनों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान रहा है । 11वीं से 13वीं शताब्दी तक प्राय. दो सौ वर्ष पर्यन्त "अणहिल पट्टन" का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर रहा । यहाँ पर सभी धार्मिक विद्वानों का समान रूप से स्वागत होता था । जैन आचार्य "शान्त सूरि" यहाँ के प्रख्यात पण्डित थे जो "बौद्ध तर्क से उत्पन्न दुरूह प्रमेयों" की शिक्षा एव तर्क बुद्धि के लिए अत्यन्त प्रख्यात थे । "पट्टन" का राजद्वार जैसे सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्वानों के लिए समान रूप से आकर्षण का केन्द्र था, इस प्रकार सभी देशों एव राज्यों के विद्वानों के लिए भी वह आकर्षण का केन्द्र था । अणहिल पट्टन शैव विद्वानों का भी प्रमुख केन्द्र था । शैवाचार्य ज्ञानदेव सोमेश्वर पुरोहित, सुराचार्य आदि अनेक विद्वान पट्टन की राजसभा को रत्नों के रूप में सुशोभित कर रहे थे ।

"वाग्भटालङ्कार" के रचयिता "वाग्भट प्रथम" भी इसी विद्वज्जन सेवित एव प्रगतिशील राज्य की विभूति थे । "वाग्भट प्रथम" आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे, तथा अणहिल पट्टन के चालुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के संरक्षण में रहे । जयसिंह का समय 1094 से 1143 ई0 के बीच का है । जिनवर्धन सूरि तथा सिंहदेवगणि

की टीकाओं से स्पष्ट है कि अणहिल पट्टन नरेश कर्णदेव के पुत्र जयसिंह थे ।

वाग्भटालङ्कार सिंहदेव गणि की टीका के अनुसार चतुर्थ परिच्छेद के 147वें श्लोक से स्पष्ट है कि उपर्युक्त राजा के महामात्य थे[1] । प्रभाचन्द्र सूरि के प्रभावकचरित पृ0 205 के अन्तर्गत विवरण से इस कथन का स्पष्टीकरण होता है, कि वाग्भट 1123 ई0 तथा 1157 ई0 में जीवित थे। अतः इस प्रकार से स्पष्ट है कि वाग्भट का साहित्य रचना काल 12वीं शती का पूर्वार्द्ध था । वाग्भट का काव्यालङ्कार 1125-1143 ई0 सन् के बीच लिखा गया है । वाग्भट प्रथम द्वारा प्रणीत वाग्भटालङ्कार ग्रंथ के0एम0 सीरीज (सन् 1933) में सिंह देवगणि की टीका सहित प्रकाशित हुआ है । यह ग्रंथ विस्तृत विवेचनात्मक नहीं है, पाँच परिच्छेदों में विभक्त है । कुल 260 श्लोक हैं, जो अनुष्टुप छंद में विरचित है । कुछ पद्य अन्य छन्दों में भी रचे गये हैं । इसमें ओजगुण का चित्रण करने वाला एक मात्र गद्य का अवतरण है ।[2]

प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण दिया गया है, उसकी उत्पत्ति का कारण प्रतिभा को स्वीकार करके प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की परिभाषा दी गई है। काव्यनिर्माण के लिए कौन सी परिस्थिति अनुकूल होती है तथा कवि के लिए अपनाने योग्य परम्पराओं का भी उल्लेख किया गया है ।

---

1. इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति --

   ब्रह्माण्ड शुक्ति सम्पुट मौक्तिकमणे. प्रभासमूह इव ।

   श्री बाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य

   वाग्भट 147

2. समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरः सरस-
   सिन्दूरपूरिचयेन वारूमितकरतलो देव ।। 3/14 वाग्भट

द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और भूतभाषा इन चार भाषाओं में काव्य की रचना स्वीकार की गयी है। काव्य के छन्द निबद्ध और गद्य निबद्ध ये दो तथा गद्य पद्य और मिश्र ये तीन प्रकार के भेद किये गये हैं। इसके बाद पद और वाक्य के आठ दोषों के लक्षण का उदाहरण सहित विवेचन करके अर्थ दोषों का निरूपण किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में काव्य के दस गुण और लक्षण उदाहरण सहित दिये गये हैं।

चौथे परिच्छेद में चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन चार शब्दालङ्कारों तथा उनके उपभेदों का 35 अर्थालङ्कारों और वैदर्भी तथा गौडी इन दो रीतियों का विवेचन किया गया है।

पाँचवें परिच्छेद में नौ रस नायक तथा नायिकाओं के भेद और तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का निरूपण है।

वाग्भटालंकार ग्रंथ के उदाहरण वाग्भट द्वारा ही स्वरचित है। चतुर्थ परिच्छेद के 49, 53, 54, 73, 77, 105, 106, और 147 संख्यक उदाहरण प्राकृत में हैं इसमें "नेमिनिर्वाण महाकाव्य" के छ. पद्य उद्धृत हैं। आचार्य वाग्भट ने काव्य शास्त्रीय चिन्तन में हेमचन्द्र की पद्धति का अनुगमन नहीं किया है, जबकि धार्मिक दृष्टि से एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वाग्भट ने किसी एक आचार्य को आदर्श नहीं मान कर अपितु पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की अलङ्कार विषयक मान्यता का आहरण किया है। वाग्भट ने 35 अलङ्कारों का निरूपण किया है,जब कि हेमचन्द्र ने ने 29 अलङ्कारों को स्वीकृति प्रदान की है। वाग्भट ने प्राचीन आचार्यों की

रचनाओं से ग्यारह [11] अर्थालङ्कार ग्रहण किये हैं, जो आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा अगृहीत है । हेमचन्द्र के द्वारा स्वीकृत निदर्शना, व्याजस्तुति, स्मृति, सम तथा कारण माला इन पाच अलङ्कारों का उल्लेख वाग्भट में नहीं किया है और वाग्भट द्वारा स्वीकृत प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना हेतु समाहित, यथा सख्य, अवसर, सार, एकावली तथा प्रश्नोत्तर इन ग्यारह अलङ्कारों का उल्लेख हेमचन्द्र ने नहीं स्वीकार किया है । वाग्भट के अधिकांश अलंकारों के स्वरूप मम्मट तथा रुय्यक के मतानुसार अवश्य कल्पित है, किन्तु कई अलंकारों के रूप विधान में वाग्भट ने भरत, भामह, रूद्रट, दण्डी आदि का सीधा प्रभाव ग्रहण किया है । उदाहरणार्थ- उपमा के अनेकोपमेय मूला भेद का भरत के आधार पर हेतु, समाहित तथा तुल्ययोगिता का स्वरूप दण्डी के आधार पर तथा अवसर और समुच्चय का स्वभाव रूद्रट के आधार पर कल्पित है । अत: वाग्भटालङ्कार में किसी नविन अलंकार की उद्भावना का प्रयास नहीं है, अपितु पूर्व-प्रतिपादित अलंकारों में ही कुछ को स्वीकार कर उनका लक्षण-निरूपण किया गया है । अत: इस वाग्भटालंकार पर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं ।

1- जिनवर्धन सूरि-कृत, जो 1405 से 1419 तक खरतरगच्छ के पुरोहित थें । यह मूल पाठ सहित ग्रन्थमाला 111 में उपर्युक्त कथनानुसार संपादित हुई है । मित्रा 2814 [औफ्रेक्ट i 559a] के आदिनाथ वास्तव में जिनवर्धन ही हैं । संवत् 1610-1553-54 ई0 में पांडुलिपि तैयार की गई थी । [कैटलॉग मैन्युस्क्रिप्ट BORI XII पृ0 323] ।

2- सिंहदेवगणि कृत, सं0 निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पूर्वोक्त अनुसार Aleip पांडुलिपि संख्या 824 पृ0 269 में इस टीका को "चूर्णि" स्वीकार किया गया है । किन्तु

जम्मू पांडुलिपि संख्या 123। पृ0 274 में यह नाम नहीं मिलता है ।

3- समयसुन्दर-कृत । ये सकलचन्द्र के शिष्य थे, जो स्वयं जिनचन्द्र के शिष्य थे । उन्होंने 1636 ई0 में अहमदाबाद में हरिराम के लिए यह टीका लिखी थी ।

4- राजहंस उपाध्यायकृत । ये जिन तिलक सूरि के शिष्य थे, जो स्वयं खरतरगच्छ के जिनप्रभा सूरि के शिष्य थे । इस पांडुलिपि को भण्डारकर ने खोजा था §रिपोर्ट 1883-84 पृ0 156,279§ इसकी प्रति संवत् 1486-1430 ई0 में तैयार की गई थी ।

5- "समासान्वय टिप्पण" क्षेमहंस गणि-कृत स्टीन पृ0 274 पर इसका सारांश दिया गया है ।

6- गणेशकृत "विवरण" । इनके पिता का नाम अनन्त भट्ट तथा गुरु का नाम भास्कर था । औफ्रेक्ट I 559a, 794a, IOC III संख्या 1155/702b, पृ0 330, 1713 में इसकी एक पाडुलिपि तैयार की गई थी ।

7- "अवचूरि"--लेखक अज्ञात औफ्रेक्ट II 132 a III, 118b

8- वामनाचार्य ज्ञानप्रमोद गणि-कृत "ज्ञान प्रमोदिका यह टीका संवत् 1681 §1624-25§ में लिखी गई थी ।

आचार्य हेमचन्द्र

बुह्लर ने एक लघु पुस्तक में हेमचन्द्र के जीवन से सम्बन्धित विवरणों का संग्रह इस प्रकार किया है।[1] हेमचन्द्र का जन्म संवत् 1145-1088 ई0 धंधुका नामक स्थान पर दरिद्र वणिक परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम चचिग तथा माता का नाम पाहिनी था। हेमचन्द्र का प्रारम्भिक नाम चंगदेव था। सवत् 1150-1093 ई0 में वे जैन भिक्षु हो गए तथा उन्होंने सोमानद नाम ग्रहण कर लिया। आचार्य हेमचन्द्र देवचन्द्र के शिष्य थे, ये "स्थानकवृत्ति" तथा शांतिनाथ के रचयिता थे। 1166-1109 में वे "सूरि अथवा आचार्य" हो गये और "हेमचन्द्र" नाम ग्रहण कर लिया। सवत् 1229-1172 ई0 84 वर्ष की आयु में उनका देहात हो गया।

हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न जैन विद्वान थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य रचनात्मक कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत काव्यालङ्कार पर भी लिखा है। मम्मट के ग्रंथ के आधार पर हेमचन्द्र के "काव्यानुशासन" तथा उसी पर अलङ्कार चूड़ामणि नामक वृत्ति लिखी

---

1. Ueber das Leben des Jaina Monches Hemacandra Wien 1889. अंग्रेजी अनुवाद, मणिलाल पटेल सिंधी जैन सीरीज 1936 Ency of Religion and Ethics, VI 591 में जैकोबी का लेख भी है।

है । आचार्य हेमचन्द्र ने "काव्यानुशासन" ग्रन्थ में अनेक ग्रन्थों की सामग्री को समाविष्ट किया है । "काव्यानुशासन" को मम्मट के "काव्य प्रकाश" से श्रेष्ठ नहीं स्वीकार किया जाता, किन्तु परिश्रमसिद्ध संग्रह-संकलन ग्रंथ अवश्य स्वीकार किया जाता है । "काव्यानुशासन" नामक अलंकार ग्रंथ वि०सं० ।।96 के आस पास स्वीकार किया जाता है । काव्यानुशासन में आठ अध्याय है । प्रथमअध्याय में काव्य का प्रयोजन और लक्षण है । द्वितीय में रस का निरूपण है । तृतीय अध्याय

।• उदाहरणतया, हेमचन्द्र ने आभार प्रगट किये बिना राजशेखर, अभिनव गुप्त, वक्रोक्तिजिवितकार, मम्मट इत्यादि विद्वानों के लम्बे-2 उदाहरणों का उपयोग किया है । भरत के अध्याय IV पर अभिनव भारती के अन्तर्गत एक अंश का अक्षरश: उद्धरण दिया गया है । हेमचन्द्र पृ० 57-66 अंत में सामान्य आभारोक्ति के रूप में ऐसा कथन है । इति श्रीमान् अभिनव गुप्तावार्य:, एतन्मतमेवास्माभिरूपजीवितं वेदितव्यम् पृ० 66 वृत्ति में पृ० 83 पर 'स्थायि भाव' पर उनकी टिप्पणी पृ० 83-84 पूर्वोक्त सूत्र में ही उद्धृत की गई हैं । राजशेखर के विस्तृत उदाहरणों की बात पहले ही स्वीकार की गई है । उन्होंने पृ० 316 पर स्वयं को भरत मतानुसारी कहा है । कहीं पर तो ऐसा प्रतीत होता है, कि हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती ग्रंथों की नकल की है ।

में शब्द, वाक्य, अर्थ और रस के दोष स्वीकार किये हैं । चतुर्थ में गुणों की चर्चा की गई है । पाँचवें में छ: प्रकार के शब्दालङ्कारों का स्वरूप विवेचन है । छठे मे २९ अर्थालङ्कारों का स्वरूप वि सातवें अध्याय में नायक, नायिका और प्रतिनायक के विषय में चर्चा की गई है । आठवें में नाटक के प्रेक्ष्य और श्रव्य ये दो भेद और उनके उपभेद स्वीकार किये है । इस प्रकार 208 सूत्रों में साहित्य और नाट्य शास्त्र का एक ही ग्रंथ में समावेश किया गया है ।

मम्मट ने काव्य प्रकाश में 66 अलङ्कार स्वीकार किये हैं, तो हेमचन्द्र ने छठें अध्याय में संकर के साथ 29 अलङ्कारों की विवेचना की है । हेमचन्द्र ने अलङ्कारों की संख्या कम करके अत्युपयोगी अलङ्कार ही स्वीकार किये है । हेमचन्द्र ने "संसृष्टि" का अन्तर्भाव "संकर" नामक अलङ्कार में किया है । "दीपक" का ऐसा लक्षण स्वीकार किया है जिसमें "तुल्ययोगिता" की प्रतीति होती है । हेमचन्द्र के "परिवृत्ति" नामक अलङ्कार में मम्मट के "पर्याय" और "परिवृत्ति" दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । हेमचन्द्र ने रस, भाव इत्यादि से सम्बद्ध रसवद्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन्, समाहित आदि अलङ्कारों का वर्णन नहीं किया है । अनन्वय और उपमेयोपमा को उपमा के प्रकार मानकर अन्त में उल्लेख किया है । "स्वभावोक्ति" और अप्रस्तुत प्रशंसा को हेमचन्द्र ने जाति और अन्योक्ति अलङ्कार के नाम से अभिहित किया है ।

अत: इस प्रकार से "काव्यानुशासन" में अलङ्कार सम्बन्धी सभी विषयों का विवेचन है । हेमचन्द्र ने जैन ग्रंथ शास्त्रों के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय के कई अंगो पर वृहद् ग्रंथ लिखे है, यथा व्याकरण, सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन, लिङ्गानुशासन

धातु-परायण तथा (उणादि सूत्र) छन्द.शास्त्र (छन्दोनुशासन) कोश (अभिधान, चिन्तामणि) अनेकार्थ संग्रह, निघंटु-शेष तथा देशीनाममाला इस प्रकार उनका ज्ञान-गाम्भीर्य उनके "कलिकाल-सर्वज्ञ" उपनाम को सिद्ध करता है । इस पर कोई टीका उपलब्ध नहीं होती । संस्करण— (1) सं0 शिवदत्त तथा के0 पी परब, निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1901, मूलपाठ, अलङ्कार चूड़ामणि तथा विवेक सहित (ii) "अलङ्कार चूड़ामणि, विवेक तथा एक अज्ञात-लेखक के टिप्पण सहित सं0 आर0 सी0 परिरव तथा आर0 बी0 अथवाले दो खण्डों में महावीर जैन विद्यालय, बम्बई 1938 ।

वाग्भट रचित काव्यानुशासन

यह वाग्भट द्वितीय है । "काव्यानुशासन रचना इनकी अपनी "अलङ्कार तिलक" टीका सहित के0 एम0 सीरीज में 1915 में प्रकाशित हुई । "काव्यानुशासन" नामक अलकार ग्रंथ की रचना 14वीं शताब्दी में किया है । वाग्भट द्वितीय मेवाड़ देश में प्रसिद्ध जैन श्रेष्ठी नेमिकुमार के पुत्र और राहड़ के लघु बन्धु थे । इस काव्यानुशासन के सूत्र गद्य में है तथा वृत्ति और उदाहरण अधिकांशत अन्य आचार्यों से ग्रहण किये गये है । इसका अधिकांश भाग गद्य सूत्रों के रूप में है तथा टीका में व्याख्या और उदाहरण आते हैं । वाग्भट द्वितीय द्वारा रचित "काव्यानुशासन" पांच अध्यायों में गद्य के रूप में सूत्र बद्ध है । प्रथम अध्याय में काव्य का प्रयोजन हेतु, कवि समय और काव्य का लक्षण, गद्य आदि के तीन भेद महाकाव्य, आख्यायिका कथा चम्पू मिश्र काव्य, रूपक के दस भेद और गेय इस प्रकार विविध विषयों का संग्रह है ।

दूसरे अध्याय में पद और वाक्य के दोष, अर्थ के चौदह दोष दूसरों के द्वारा निर्दिष्ट दस गुण को तीन गुणों के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट अभिप्राय और वैदर्भी गौडी, पांचाली रीतियों का भी वर्णन है ।

तृतीय अध्याय में 63 अलङ्कारों का निरूपण है । जिनमें कुछ उल्लेखनीय अलंकार इस प्रकार से हैं-- अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास भाव तथा आशी: ।

चतुर्थ अध्याय में चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, पुनरुक्तवदाभास इन 6. शब्दालंकारों और इनके भेदों का विवेचन किया गया है ।

पाचवे अध्याय में नौ रस विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव नायक-नायिका के भेद, प्रेम की दस अवस्थाएँ तथा रस दोषों का विवेचन हुआ है ।

अत वाग्भट द्वितीय "काव्यानुशासन" के रचयिता वाग्भट प्रथम "वाग्भटालङ्कार" के रचयिता से भिन्न है । इस विषय में स्वयं ही लिखा है, "दण्डी वामन वाग्भटादि प्रणीता दशकाव्यगुणा: । परन्तु माधुर्योज: प्रसादलक्षणां स्त्रीनेवगुणान् मन्यामहे" (काव्यानुशासन वृत्ति पृ0 31) वाग्भट द्वितीय ने अपनी टीका पृ0 305 में विभिन्न प्रदेशों, नदियों, वृक्षों तथा विभिन्न प्रदेशों के विशिष्ट वस्तुओं की सविस्तार सूची दी है । इससे स्पष्ट प्रतीति होता है, कि "ऋषभदेवचरित" नामक महाकाव्य तथा "छन्दोनुशासन" ये दोनों कृतियाँ भी वाग्भट द्वितीय की हैं । स्वयं ग्रन्थकार के लिए एक श्लोक पृ0 58 पर तथा दूसरा श्लोक नेमिकुमार को उद्दिष्टकर पृ0 32 पर लिखा गया है:--

"गायन्तितरासकविधाविभेधपाठनामोधुनापि तव नेमिकुमार कीर्तिम् ।" इन्होंने अनेक

ग्रंथों और लेखकों का उल्लेख किया है, जैसे अब्धिमथन -- ‖अपभ्रंशनिबद्ध पृ0 15‖ आनन्दवर्धन, काव्यप्रकाश, ‖पृ0 29‖ चन्द्र प्रभकाव्य और त्रिविक्रम पृ0 20, दमयन्ती पृ0 19, बाल रामायण पृ0 67, भीमकाव्य ग्राम्य भाषा में रचित पृ0 15, वसवदत्ता चम्पू पृ0 19, श्रृंगार तिलक पृ0 61763 श्लोक अस्माकं सखि और गाढालिङ्गन । इस 'काव्यानुशासन' ग्रंथ में मौलिकता नहीं है । वाग्भट द्वितीय ने राजशेखर की काव्य मीमांसा " काव्य प्रकाश" तथा अन्य ग्रन्थों का आधार लिया है और अन्य ग्रन्थों के उदाहरणों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है । उदाहरणार्थ यमक अलङ्कार के अन्तर्गत रम्भारामा श्लोक 'वाग्भटालकार' 4·30 से और 'नेमिनिर्वाण' काव्य 7·50 से उद्धृत किया है । 'काव्यानुशासन' की एक हस्त लिखित प्रति एगिंलग्स के टालॉग स0 1157 की तिथि संवत् 1515 ‖1458-1459‖ई0 सन्‖ है। इन्होंने वाग्भट प्रथम और काव्यप्रकाश का उल्लेख स्वीकार किया है अत: इनका समय 1150 ई0 सन् के बाद का है । ये सम्भवत: 14वीं शताब्दी में रहे । वाग्भट द्वितीय के "काव्यानुशासन" नामक ग्रंथ पर कोई टीकाएँ उपलब्ध नहीं होती ।

संस्करण- "काव्यानुशासन" शिवदत्त तथा के0 पी0 परब द्वारा, सागर प्रेस, बम्बई 1894-1915 "अलङ्कार तिलक" सहित ।

आचार्य रामचन्द्र और गुण चन्द्र

"नाट्यदर्पण" नामक ग्रंथ के रचयिता रामचन्द्र और गुणचन्द्र नामक दो जैन विद्वान गुजरात देश के निवासी तथा आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे । रामचन्द्र ने अपने को हेमचन्द्र का शिष्य स्वीकार करते हुए इस प्रकार से परिचय दिया है--

सूत्र- दत्त' श्री मदाचार्य हेमचन्द्रस्य शिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासाभिधानमाद्य रूपकमभिनेतुमादेश: ।" ‖नलविलासस्य आमुखे‖

सूत्र-- श्री सिद्धहेमाभिधान शब्दानुशासनवेधस: श्री मदाचार्य हेमचन्द्रस्य शिष्येण

रामचन्द्रेण विरचितं सत्यहरिश्चन्द्राभिधानमादिरूपकमभिनीय सभाजनमनुरन्ज-

यिष्यामः ।- {सत्यहरिश्चन्द्रस्य प्रस्तावनायाम्}

रामचन्द्र ने अपना परिचय हेमचन्द्र सूरि के शिष्य के रूप में ही स्वीकार किया है । पिता और गोत्र के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है । "रघुविलास" की प्रस्तावना में अपना परिचय इस प्रकार से स्वीकार किया है ।

"मारिष ! सिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासन वेधस. श्रीमदाचार्य हेमचन्द्रस्य शिष्यं रामचन्द्रमभिजासि ?

चन्द्रं - साक्षेपम्

पञ्चप्रबन्धमिषपंचमुखानकेन विद्वन्मन: सदसि नृत्यति यस्य कीर्ति: ।

विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्य तन्द्र कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ?

किन्तु द्रव्यालङ्कारनामा प्रबन्धोऽनभिनेयत्वेन तावदास्ताम् । अपरेषां राघवा-भ्युदय-यादवाभ्युदयनलविलास-रघुविलासानां चतुर्णां रमणीयतमुसन्दृष्यङ्‌नि-वेशाना विशदप्रकृतीना पुनर्मध्ये कुत्र प्रजानामनुराग: ?

यह उद्धरण "रघुविलास" की प्रस्तावना से लिया गया है । इसमें रामचन्द्र ने पांच ग्रंथों का उल्लेख किया है । प्रथम तो "द्रव्यालङ्कार" नामक ग्रंथ न्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला शेष चार उनके प्रसिद्ध नाटक हैं । गुणचन्द्र के विषय केवल यह विदित होता है, कि ये रामचन्द्र के सहपाठी यानि घनिष्ठ मित्र और हेमचन्द्र के शिष्य थे । गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के साथ मिलकर दो ग्रंथों की रचना की है । प्रथम "नाट्यदर्पण" और द्वितीय "द्रव्यालङ्कार वृत्ति" गुणचन्द्र का अपना अलग से कोई ग्रंथ नहीं पाया जाता है, किन्तु रामचन्द्र ने अन्य ग्रन्थों की रचना की है, जो प्राय: नाटक हैं । इन्हें "प्रबन्धकर्ता" कहा जाता है । अभिप्राय यह है

उन्होंने प्रायः 100 ग्रंथों की रचना की थी । उनके 11 नाटकों के उदाहरण "नाट्यदर्पण" ग्रंथ में भी पाये जाते हैं ।

अन्य साहित्य ग्रन्थों के समान "नाट्यदर्पण" की रचना भी कारिका शैली में हुई है । यह नाट्य शास्त्रीय ग्रंथ है । इस पर "वृत्ति" ग्रन्थकार ने स्वयं ही लिखा है । नाट्यदर्पण को चार विवेकों में विभक्त किया है । 'प्रथम विवेक' में नाटक, रूपक भेद का स्वरूप विवेचन प्रस्तुत किया है और 'द्वितीय विवेक' में "प्रकरण" आदि शेष ग्यारह भेदों का 'तृतीय विवेक' में रसवृत्ति, रस दोष तथा अभिनय का विवेचन है । तथा 'चतुर्थ विवेक' में रूपकोपयोगी अन्य सामग्री का जिसके अन्तर्गत नायक-नायिका भेद को भी स्थान प्राप्त है । इस ग्रंथ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान "रूपक" को मिला है । "रस" को द्वितीय तथा "नायक-नायिका" भेद को तृतीय स्थान प्राप्त है । उक्त विषयों के अतिरिक्त इस ग्रंथ में कुछ अन्य विषयों पर भी विवेचना की गई है । जैसे काव्य-प्रयोजन, काव्य हेतु, कवित्व-महिमा, अलङ्कार, वक्रोक्ति, औचित्य, अनौचित्य दोष आदि ।

आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने "नाट्यदर्पण" ग्रन्थ की रचना भरत मुनि के "नाट्यशास्त्र" के आधार पर किया है । किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में बहुत अन्तर है । "नाट्यशास्त्र" 18 अध्यायों का विशाल विश्वकोष है, लेकिन "नाट्य-दर्पण" तो बहुत छोटा सा ग्रन्थ है । इस नाट्यदर्पण ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के 18वें अध्याय में वर्णित विषय का ही प्रतिपादन किया गया है । नाट्यशास्त्र का 18 वाँ अध्याय "दशरूपकनिरूपणाध्याय" है । इसमें नाटक, प्रकरण व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम, अंक, ईहामृग, वीथी 10 प्रकार के रूपकों का वर्णन है । जिसे आधार रूप में स्वीकार करते हुए आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने "नाट्यदर्पण" नामक ग्रंथ की रचना किया है ।

अरि सिंह और अमरचन्द्र

जैन आचार्यों की "परम्परा में अपनी विद्वता से ख्याति प्राप्ति करने वाले और गुर्जरनरेश विशलदेव वि०सं० 1243 से 1261 की राज्यसभा को सुशोभित करने वाले वायडगच्छीय आचार्य जिनदत्त सूरि के शिष्य आचार्य "अरि सिंह और अमरचन्द्र" ने मिलकर आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र की भाँति इन्होंने भी "काव्यकल्पलता" नामक ग्रंथ की रचना किया है--

"किञ्चच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चद् ।

व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम् ।"

काव्यकल्पलता वृत्ति, पृ० ।

अमरचन्द्र ने "काव्यकल्पलतावृत्ति" में इन तीन ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है, "छन्दोरत्नावली, "कल्पलतापरिमल" तथा अलङ्कार प्रबोध आदि ।

काव्यकल्पलतावृत्ति में पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा को छोड़कर नवीन मार्ग को स्वीकार किया है । काव्यकल्पलतावृत्ति का विषय "कविशिक्षा" है । इनमें गुण, दोष, अलङ्कार आदि का विवेचन नहीं किया गया है । कवि सम्प्रदाय की परम्परा के न होने से तथा तद्विषयक अज्ञानता के कारण, काव्योत्पत्ति में सौन्दर्याघात होने की वजह से, अमरचन्द्र सूरि ने उस काव्योत्पत्ति के सौन्दर्य हेतु "काव्यकल्पलता" नामक ग्रंथ की रचना किया है । अतः यह ग्रंथ काव्य-निर्माण अभ्यासियों के लिए उपयोगी है ।

इस ग्रंथ में चार "प्रतान" हैं । 1- छन्द सिद्धी, 2- शब्द सिद्धि, 3- श्लेषसिद्धि और 4- अर्थ सिद्धि के उपायों का प्रतिपादन किया गया है ।

इस "काव्यकल्पलता" ग्रंथ के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों की रचना अमरचन्द्र सूरि ने किया है। जिससे यह ज्ञात होता है कि ये व्याकरण, अलङ्कार छंद इत्यादि विषयों में प्रवीण थे। इनकी रचना शैली सरल, मधुर तथा नैसर्गिक है। इनके अन्य ग्रंथ इस प्रकार से हैं --

1- स्यादिशब्दसमुच्चय 2- पद्मानन्दकाव्य 3- बालभारत 4- छंदोरत्नावली 5- द्रौपदीस्वयंवर 6- काव्यकल्पलतामंजरी 7- काव्यकल्पलतापरिमल 8- अलङ्कार .. प्रबोध 9- सूक्तावली 10- कलाकलाप आदि।

काव्यकल्पलतापरिमल वृत्ति तथा काव्यकल्पलतामंजरी वृत्ति--"काव्यकल्पलता वृत्ति" पर ही अमरचन्द्रसूरि ने स्वोपज्ञ "काव्यकल्पलतामंजरी" जो अब तक उपलब्ध नहीं है, उस पर 1122 श्लोक परिमाण "काव्य-कल्पलतापरिमल" वृत्तियों की रचना की है। काव्यकल्पलता वृत्ति-मकरन्दटीका "काव्यकल्पलता वृत्ति" आचार्य हरिविजयसूरि के शिष्य शुभविजय जी ने वि0 सं0 1665 में आचार्य विजयदेवसूरि की आज्ञा से 3196 श्लोक परिमाण एक टीका रची है।

काव्यकल्पलता वृत्ति-बालावबोध--

नेमिचन्द्रभण्डारी नामक विद्वान ने "काव्यकल्पलता वृत्ति" पर पुरानी गुजराती में बालावबोध की रचना किया है। इन्होंने "षष्टिशतक" प्रकरण भी बनाया है।

काव्यकल्पलता वृत्ति-बालावबोध-खतरगच्छीय मुनि मेरूसुन्दर ने वि0 सं0 1535 में "काव्यकल्पलता वृत्ति पर पुरानी गुजराती में एक अन्य बालावबोध की रचना किया है। इन्होंने षष्टिशतक विदग्धमुखमण्डन, योगशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों पर बालावबोध की रचना किया है।

काव्य का स्वरूप

आचार्य वाग्भट ने चार प्रकार की भाषाओं में काव्य रचना को स्वीकार किया है, संस्कृत,प्राकृत,अपभ्रश और भूतभाषा ये चार भाषाएँ काव्य शरीर की रचना करती हैं ।[1]

आचार्य वाग्भट ने इन चार प्रकार की भाषाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है, व्याकरणादि शब्दशास्त्रों में संस्कृत भाषा को देवभाषा स्वीकार किया हे । सस्कृत से उत्पन्न भाषा प्राकृत है, जो कि विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने के कारण विभिन्न नामों से प्रचलित है, यथा-- मागधी,अर्धमागधी,पैशाची,महाराष्ट्री इत्यादि ।[2] वाग्भट के अनुसार अन्य (यवन-बर्बर आदि) देशों में जो संस्कृत से भिन्न किन्तु उन देशों के नियमानुसार भाषा बोली जाती है, उसको अपभ्रश स्वीकार किया है,[3] और भूतादि जाति विशेष द्वारा जो भाषा प्रयुक्त होती है, उसे भौतिक भाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान की है ।[4]

1• संस्कृत प्राकृत तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इतिभाषाश्चतस्त्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ।। 1/2 - वाग्भट

2• सस्कृतं स्वर्गिणा भाषा शब्द शास्त्रेषु निश्चिता ।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्य देश्यादिकमनेकधा ।। 2/2 - वाग्भट

3• अपभ्रंशस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेषु भाषितम् । - वाग्भट

4• यद्भूतैरुच्यते किंचित्तद्भौतिकमिति स्मृतम् ।।
3/2 वाग्भट

भोज के अनुसार "संस्कृत आदि वाणी जाति (अलङ्कार) के रूप में अपेक्षित है। वह जाति औचित्य आदि के द्वारा वाणी का अलङ्कार हो जाया करती है।[1] कुछ आचार्यों ने केवल संस्कृत के द्वारा, कुछ ने केवल प्राकृत के द्वारा, कुछ ने समान रूप से सबके द्वारा और कुछ ने म्लेच्छ भाषा द्वारा काव्य की रचना स्वीकार की है।[2] आचार्य भोज ने इन कारिकाओं में जाति की परिभाषा तथा कवियों की भाषा विषयक मान्यता का उल्लेख स्वीकार किया है। भोज के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार-प्रसंग में जाति शब्द का ग्रहण अवश्य किया है, किन्तु सर्वत्र अर्थ अलग-अलग ढंग से स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी ने भी भाषा के आधार पर अवश्य ही वाङ्मय का विवेचन किया है, किन्तु दण्डी ने इसे अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया।[3] आचार्य भोज ने इन भाषा जातियों का उल्लेख "औचित्य" के आधार पर स्वीकार किया है। जिसका निरूपण निम्न प्रकार से किया गया है-- "विषयौचित्य" का निरूपण इस प्रकार से भोज ने स्वीकार किया है, "यज्ञ आदि में म्लेच्छ भाषा तथा अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए और

---

1. तत्र संस्कृतमित्यादिर्भारती जातिरिष्यते ।
   सा त्वौचित्यादिभिर्वाचामलकाराय जायते ।। 6/2 भोज सरस्वतीकण्ठाभरण
2. संस्कृतेनैव केऽप्याहु. प्राकृतेनैव के चन ।
   साधारण्यादिभि: केचित्केचन म्लेच्छभाषया ।। 7/2 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण
3. तदेतद्वाङ्मयं भूय: संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
   अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ।।
   संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि: ।
   तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेक. प्राकृतक्रम: ।। 1/32-33 दण्डी-काव्यादर्श

स्त्रियों को प्राकृत के अतिरिक्त अन्य भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए । शुद्ध जन्म वाले उच्चवर्ग के लोगों में संकीर्ण मिली जुली भाषा (मिश्रित भाषा) का प्रयोग नहीं होना चाहिए । जो विद्वान नहीं है, उनमें संस्कृत का प्रयोग नहीं होना चाहिए ।[1] "वक्त्रौचित्य" का निरूपण भोज ने इस प्रकार किया है । देव आदि "संस्कृत" बोलते हैं, "प्राकृत" को किन्नर आदि "पैशाच" को पिशाचादि तथा "मागधी" को निम्न कोटि के लोग।[2] "वाच्यौचित्य" का निरूपण भोज के अनुसार "कोई विषय संस्कृत के द्वारा और कोई प्राकृत के द्वारा तथा कोई अपभ्रंश के ही द्वारा रचा जा सकता है ।" पैशाची, शौरसेनी तथा मागधी आदि के द्वारा भी कोई विषय और कोई दो, तीन भाषाओं तथा सभी भाषाओं के द्वारा निबद्ध होता है ।[3] "देशौचित्य" का निरूपण इस प्रकार है, "लाट देशवासी लाटी भाषा का ही प्रयोग करते है, संस्कृत के द्रोही तथा लाट देशवासी प्राकृत को ही मनोज्ञ समझते हैं और गुर्जर प्रदेश के लोग अपभ्रंश भाषा से ही सन्तुष्ट होते है ।[4]

---

1. न म्लेच्छितव्यं यज्ञादौ स्त्रीषु ना प्राकृतं वदेत्
   संकीर्णं नाभिजातेषु ना प्रबुद्धेषु संस्कृतम् ।। 8/2 भोज - सरस्वतीकण्ठाभरण
2. देवाद्या संस्कृतं प्राहु. प्राकृतं किन्नरादय: ।
   पैशाचाद्य पिशाचाद्या मागध हीनजातय: ।। 9/12 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण
3. संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थ. प्राकृतेनैव चापर. ।
   शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते ।। 10/2 ।।
   पैशाच्या शौरसेन्यान्यो मागध्यान्यो निबध्यते ।
   द्विाभि कोऽपि भाषाभि सर्वाभिरपि कश्चन ।। 11/2 ।। भोज-सरस्वतीकण्ठाभ
4. शृण्वन्ति लटभ लाटा. प्राकृतं संस्कृतद्विष. ।

आवार्य दण्डी ने इन भाषाओं का मात्र विवरणात्मक परिचय ही स्वीकार किया है । दण्डी के अनुसार :—

"महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्ट प्राकृतं विदु: ।
सागर: सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ।। 34
शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी ।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु संनिधिम् ।। 35
आभीरादिगिर: काव्येऽवपभ्रंश इति स्मृता: ।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ।। 36
संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम् ।
ओसरादि रपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ।। 37"

दण्डी - काव्यादर्श

महाराष्ट्र में प्रयुक्त (महाराष्ट्री) भाषा को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत स्वीकार करते हैं । इस भाषा में रचित सेतुबन्ध आदि काव्य सुभाषित-रूप रत्नों के (आश्रयभूत) समुद्र हे । प्रादेशिक आधार पर प्राकृत के विभिन्न रूपों का उल्लेख करते हुए दण्डी ने महाराष्ट्री की विशिष्ट चर्चा की है । उनके अनुसार यह रूप प्राकृत के सभी रूपों में श्रेष्ठ है । शौरसेनी, गौडी लाटी तथा इन्ही के समान अन्य भाषा रूप इस नाम से व्यवहृत होते हैं । प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थों में प्राय: इन प्राकृतों का उल्लेख स्वीकार किया है, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी पैशाची और चूलिकापैशाची । गौडी और लाटी का उल्लेख इनमें नहीं मिलता । शौरसेनी

मथुरा के आस-पास शूरसेन प्रदेश में बोली जाने वाली तथा मागधी मगध जनपद (बिहार का मध्य पश्चिमी भाग) की प्राकृत का नाम है। जैन धर्म ग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृत अर्धमागधी है। पैशाची जिसका उल्लेख दण्डी ने (1.38) पर भूत-भाषा के रूप में स्वीकार किया है, अवन्ति, परियात्र, दशपुर एव अन्य प्रदेशों में बसने वाली निम्नजातियों (किरात, शबर, भिल्ल आदि) की भाषा माना है। चूलिका पैशाची संभवत इसका ही एक भेद है। दण्डी के अनुसार गौडी यानि गौड देश एवं लाटी लाट देश की "प्राकृत" है। काव्य ग्रन्थों में प्रयुक्त आभीर आदि म्लेच्छ जातियों की बोली को "अपभ्रंश" स्वीकार किया है। लेकिन शास्त्र ग्रन्थों में प्रसगवश प्रयुक्त सस्कृत से भिन्न सभी भाषाओं को अपभ्रंश स्वीकार किया है। दण्डी के अनुसार अपभ्रंश भाषा विशेष का नाम नहीं है। यह एक ऐसा नाम है जो विभिन्न सदर्भ में विभिन्न अर्थ रखता है। काव्य या नाटक ग्रन्थों में जहाँ सस्कृत और प्राकृत दोनों का साथ-2 प्रयोग मिलता है। प्रसगवश अभीर, यवन, शक तुरुष्क आदि म्लेच्छ जातियों द्वारा प्रयुक्त बोली अपभ्रंश नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार से यह देश-भाषा न होकर "जातिभाषा" है। व्याकरण आदि शास्त्र ग्रन्थों में प्रयुक्त सस्कृतेतर भाषाएँ जिनमें प्राकृत भी शामिल है वे अपभ्रंश स्वीकार की गई हैं।

सर्गबन्ध (महाकाव्य) आदि सस्कृत में, स्कन्ध आदि प्राकृत में, ओसर आदि अपभ्रंश में, एवं नाटक आदि मिश्र भाषा में, निबद्ध होते है। महाकाव्य के लिए सस्कृत के प्रयोग का अग्निपुराण (336,26) में भी मिलता है, "तु सर्गबन्धो महाकाव्य-मारब्ध संस्कृतेन यत् खण्ड काव्य, संघात।" आख्यायिका आदि काव्य रूप भी संस्कृत में निबद्ध होते हैं। छन्द विशेष में निबद्ध रचना स्कन्ध है। यह प्राकृत में

लिखी जाती है, रत्नश्री के अनुसार सेतुबन्ध स्कन्ध है। आचार्य धनजय दशरूपक-कार के अनुसार, "पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचाना कृतात्मनाम्। लिङ्गिनीना महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित्। स्त्रीणा तु प्राकृतं प्राय शौरसेन्यधमेषु च। पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागध तथा। यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देश तस्य भाषितम्। कार्यतश्चोत्तमादीना कार्यो भाषाव्यतिक्रम.। दशरूपक 2/64-66 परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ कविराज ने इन प्राकृतों के प्रयोग से सम्बद्ध अत्यन्त स्पष्ट संकेत स्वीकार किया है --

"पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतानाम्।
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम्।
आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत्"।। 158
विश्वनाथ - साहित्य दर्पण

आचार्य भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में इन भाषाओं की स्वीकृति इस प्रकार से किया है--

गिरः श्रव्या दिव्या. प्रकृतमधुरा. प्राकृत मधुरा, सुभव्योऽपभ्रंश सरसवचनं भूतवचनम्। विदग्धानामिष्टे मगधमधुरावासिभणिति र्निबद्धा यस्तेषा स इह कविराजो विजयते ।। 16/2 भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

देवों की वाणी संस्कृत श्रवण के योग्य होती है। प्राकृत भाषायें भी स्वभाव से मधुर हैं। अपभ्रंश भी अत्यन्त शानदार है। पैशाची भाषा की रचना रसयुक्त होती हैं। मगध तथा मथुरा सूरसेन प्रदेश में रहने वालों की भाषायें मागधी तथा शौरसेनी भी विद्वानों को मान्य है। जो इन भाषाओं से रचना करने वाला है, वही साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है।

आचार्य वाग्भट के अनुसार वाङ्मय दो प्रकार का होता है, प्रथम "छन्दोबद्ध" और द्वितीय "छन्दोहीन" प्रथम को पद्य तथा द्वितीय को गद्य स्वीकार किया है। पद्य और गद्य से मिले हुए वाङ्मय को "मिश्र" स्वीकार किया है।[1] आचार्य दण्डी ने काव्य के तीन प्रकार के भेदों को स्वीकार किया है।[2] आचार्य वामन इसे दो प्रकार की स्वीकृति प्रदान करते हैं[3] तथा भोज के अनुसार कोई गद्य के द्वारा, कोई पद्य के द्वारा तथा कोई दोनों के मिश्रण से काव्य का विषय बन जाता है। कोई-कोई वर्ण्य विषय तो काव्य में दो-दो के द्वारा और कोई तीनों के द्वारा कवित्वमय स्वीकार किया जाता है।[4] उदाहरणार्थ घनघोर वन का वर्णन गद्य में ही उचित होता है, वह पद्य में उतना सुन्दर वर्णित नहीं हो सकता वाणभट्ट का "विन्ध्याटवी" वर्णन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार अत्यन्त सरल प्रसंगों में तथा काव्यशास्त्रता के निर्वाह में पद्य रचना गद्य की अपेक्षा अधिक सक्षम है। कथा और आख्यायिका "गद्य" में तथा चम्पू आदि मिश्र के लिए उचित है। महाकवि वाण जितने सक्षम गद्य रचना में है, उतने ही पद्य रचना में भी हैं।[5]

---

1. छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा।
   पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद्द्वयम्॥ 4/2 वाग्भट
2. गद्य पद्य च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्॥ 1/14 दण्डी-काव्यादर्श
3. काव्य गद्य पद्य च। 1/3/21 वामन- काव्यालंकारसूत्राणि
4. कश्चिद्गद्येन पद्येन कश्चिन्मिश्रेण शम्यते।
   कवितुं कश्चन द्वाभ्यां काव्येऽर्थ कश्चन त्रिभि:॥ 19/2 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण
5. यादृग्गद्यविधौ वाण: पद्यबन्धेऽपि तादृश:।
   गत्या गत्यामियं देवी विचित्रा हि सरस्वति॥ 20/2 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

काव्य का प्रयोजन

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है । शास्त्र तथा काव्य का भी निश्चित प्रयोजन होता है, क्योंकि बिना प्रयोजन के उसकी सार्थकता ही क्या है--

"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।

यावत्प्रयोजनं नोक्त तावत् तत्केन गृह्यते ।।"

काव्य का प्रयोजन काव्य मानने वाले भी प्रयोजन के अस्तित्व का निषेध नहीं करते । संस्कृत वाङ्मय में प्रत्येक शास्त्र के चार अनुबन्ध स्वीकार किये गये हैं, अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन । सुन्दर काव्य का "दृष्ट" प्रयोजन है, "आनन्द" और "अदृष्ट" प्रयोजन "कीर्ति" है । भरत के सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन का विवेचन कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से स्वीकार किया है । आचार्य वाग्भट ने "कीर्ति" को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है । यश.प्राप्ति के लिए कवि को ऐसे काव्य की रचना करनी चाहिए, जो साधु शब्द और अर्थ से पूर्ण हो । काव्य में औदार्य, समता कान्ति, अर्थ व्यक्ति प्रसाद, समाधि,श्लेष ओज माधुर्य और सुकुमारता इन दस गुणों का समावेश हो, तथा उपमादि अलङ्कारों से युक्त वैदर्भी और गौडी रीति हों तथा नौ रसों से युक्त काव्य के स्वरूप को उत्तम माना है । जो "कीर्ति" युक्त होता है ।[1]

---

1. साधुशब्दार्थसन्दर्भ गुणालङ्कार भूषितम् ।

स्फुटरीतिरसोपेत काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।।

1/2 वाग्भट

आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र में नाट्य अथवा काव्य का प्रयोजन इस प्रकार से किया है, "यह नाट्यवेद उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के कर्म का आश्रय रूप हितोपदेश का नियन्ता तथा सुख क्रीड़ा और धृति का उद्भावक है। यह तपस्वियों के दु:ख, श्रम, शोक का विनाशक और लोक के लिए विश्रान्ति दायक है। नाट्य वेद को धर्म, यश, आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्द्धक लोकोपदेष्टा स्वीकार किया है।"[1] भामह के अनुसार काव्य-प्रयोजन इस प्रकार है, "उत्तम काव्य की रचना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति कलाओं में निपुणता कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है।[2] आचार्य वामन ने "आनन्द" और "कीर्ति" ये दो मूल काव्य के प्रयोजन स्वीकार किये हैं। इनमें से प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति को काव्य का "दृष्ट" प्रयोजन तथा कीर्ति को काव्य का "अदृष्ट" प्रयोजन माना है।[3] मम्मट का काव्य प्रयोजन सम्बन्धी विचार सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। मम्मट ने अधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा मानसिक इन तीनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति का कारण काव्य को मानते है। यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अशिव की क्षति, तात्कालिक आनन्द और

---

1. उत्तमाधममध्यानां नाराणां कर्मसंश्रयम् ।
   हितोपदेशजननं धृति-क्रीडा-सुखादिकृत ।। ।।3
   दु:खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
   विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।। ।।4
   धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्द्धनम्
   लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।। ।।5

   भरत-नाट्यशास्त्र

2. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
   प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।। 1/2 भामह-काव्यालङ्कार
3. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् ।। 1/5 वामन-काव्यालङ्कार-सूत्राणि

कान्तासम्मित उपदेश ये छः काव्य के प्रयोजन लोकप्रिय है ।[1] आचार्य हेमचन्द्र के काव्य प्रयोजन में मम्मट की कारिका का केवल अर्द्धभाग ही लक्षित होता है । छः प्रयोजन के स्थान पर केवल तीन को ही स्वीकार किया है ।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने यश,आनन्द,गुरु राजा और देवता आदि की प्रसन्नता को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है ।[3]

अतः इस प्रकार से सम्पूर्ण प्रयोजन को दो भागों में स्वीकार किया है, "कीर्ति एव प्रीति" । कवि की दृष्टि से "कीर्ति" एक महत्वपूर्ण प्रयोजन है,"कालिदास" जैसे कवि अपनी विनियोक्ति में "यश" की कामना करते हैं ।[4] आचार्य भामह ने "कीर्ति" को काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हुए उसका विवेचन इस प्रकार से किया है-- "उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर "यावच्चन्द्रदिवाकरौ अक्षुण बना रहता है । और जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भूमण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है, तब तक वे सौभाग्य शाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं । प्रलय पर्यन्त कीर्ति की इच्छा रखने वाले कवि को उसके उपयोगी समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर

1• काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

मम्मट-काव्य प्रकाश 1/2

2• काव्यमानन्दाय यशसेकान्ता तुल्यतयोपदेशाय च । — पृष्ठ 2
हेमचन्द्र-काव्यानुशासन

3• कीर्ति परमाह्लादगुरु राजदेवता प्रसादाद्यनेकस्य प्रयोजकस्य काव्यस्य व्युत्पत्ते । पृष्ठ
पण्डित राजजगन्नाथ- रसगङ्गाधर-प्रथम आनन

4• मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ।।

रघुवंश-प्रथम सर्ग-कालिदास

उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिए। काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखना चाहिए क्योंकि बुरे काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन होता है, जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है।[1]

आचार्य वामन ने भी कीर्ति को काव्य का 'अदृष्टार्थ' प्रयोजन स्वीकार करते हुए इस विषय पर तीन श्लोक इस प्रकार से निवेन्वित किया है--

"प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः ।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ।। 1
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः ।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ।। 2
तस्माद् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च विबर्हितुम् ।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ।। 3

प्रथम अध्याय/5 -- वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

---

1. उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम् ।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ।। 6
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ।। 7
अतोऽभिवांछता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ।। 8
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।। 11
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ।। 12

आचार्य राजशेखर ने काव्य मीमांसा में यह स्वीकार किया है, "साहित्य सम्पूर्ण विद्याओं की भाँति, धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति का मुख्य साधन है।"[1] राजशेखर ने काव्यमीमांसा के नवम अध्याय पृ० 122 पर अनेक भाषाओं में रचना करने वाले कवि की प्रशंसा इन शब्दों में की है, "जिस कवि की प्रगल्भ प्रतिभा का अधिक प्रसार होता है, उसकी कीर्ति समस्त संसार को स्नान कराती है।[2] काव्यमीमांसा के दशम अध्याय पृ० 126 पर, कवि के कीर्ति के विषय में यह टिप्पणी किया गया है --

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशान्तरस्थिते ।

प्रत्यक्षे तु कवौ लोक. सावज्ञ. सुमहत्यपि ।।

प्रत्यक्षकवि काव्यं व रूप च कुलयोषित. ।

गृहवैद्यस्य विद्या व कस्मैचिद्यदि रोचते ।।

राजशेखर--काव्यमीमांसा पृ० 127

"कीर्ति" के पश्चात् "प्रीति" को भी काव्य का मूल प्रयोजन स्वीकार किया गया है। आचार्यों ने प्रीति का अर्थ आनन्द माना है "मुत् प्रीति. प्रमदो हर्ष: प्रमोदामोदसंमदा: । -- अमर कोश (4/24) कलाजनित आनन्द के लिए प्रीति शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य भरत ने इसका अर्थ "काव्यविनोद" किया है।

---

1 "पचमी साहित्यविद्या" इति यायावरीय ।सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्द. अभिर्धनार्थौ यद्विद्यात्तद्विधाना विद्यात्वम् ।"

राजशेखर-काव्यमीमांसा पृ० 10 द्वितीयोऽध्याय:

2• यस्येत्थं धी प्रगल्भा स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिर्जगन्ति ।।

राजशेखर-काव्यमीमांसा-पृ० 122 नवम अध्याय

दण्डी के अनुसार, प्रीति का अर्थ है "काव्यास्वादन" है तथा भामह ने "कलात्मक उन्मेष एवं आनन्द" यह स्वीकार किया है । कुन्तक के अनुसार यह "प्रीति" काव्य के मूल तत्व अन्तश्चमत्कृति का फल है । मम्मट ने "सद्यः परिनिर्वृत्ति" को प्रकारान्तरभाव से काव्यजनित आनन्द या प्रीति स्वीकार किया है । आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रीति के लिए आनन्द शब्द का प्रयोग करते हुए आनन्द की व्याख्या इस प्रकार से की है, "चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि आनन्द एवं पार्यन्तिकम् मुख्यं फलम्"। यह काव्य के कलाजनित आनन्द की ओर स्पष्टता के साथ इंगित करता है ।

काव्य-हेतु

संस्कृत आचार्यों ने काव्य-हेतु की चर्चा काव्य-प्रयोजन के बाद किया है । जिन साधनों से कवि कर्म में सफलता प्राप्त होती है, वे "काव्य के हेतु" स्वीकार किये जाते है । संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के तीन हेतुओं को स्वीकार किया है, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास । आचार्य वाग्भट ने काव्य-हेतु को इस प्रकार से प्रतिपादित किया है, "प्रतिभा" काव्योत्पत्ति का हेतु है, व्युत्पत्ति" से उस काव्य में सुन्दरता की वृद्धि होती है तथा "अभ्यास" से शीघ्र ही रचना सम्भव होती है ।[1] आचार्य भामह के अनुसार काव्य-हेतु इस प्रकार है, "गुरु के उपदेश से मन्दबुद्धि वाले भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु काव्य किसी प्रतिभाशाली को ही कभी-कभी स्फुरित होता है ।

---

1. प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
   भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ।। 1/3 वाग्भट

व्याकरण, छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र और कलाओं का काव्य रचना के लिए मनन करना चाहिए। शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर काव्यज्ञों की उपासना कर और अन्य लेखकों की रचनाओं को देखकर काव्य प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए।[1] आचार्य भामह ने इन सभी को काव्य का हेतु स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी के अनुसार, "पूर्वजन्म के संस्कारों से सम्पन्न, ईश्वर प्रदत्त, स्वाभाविक प्रतिभा विविध विशुद्ध ज्ञान, से युक्त अनेक शास्त्रविद् ये सभी काव्य सम्पदा के कारण होते है"।[2] दण्डी का अभिप्राय है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा तीनों का होना आवश्यक है, पर साधारण काव्य प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी बन सकते हैं। आचार्य वामन ने, "लोक, विद्या और प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य-निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया है।"[3] "लोकवृत्त लोक.।" 1/3/2 वामन काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति शब्दस्मृत्यभिधानकोश-छन्दोविचित-कला-कामशास्त्र दण्डनीति-पूर्वा विद्या:। 1/3/3 (वा० का० सू०) लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं

1• गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत॰ ।। 1/5
शब्दश्छन्दोभिधनार्था इतिहासाश्रया: कथा ।
लोको युक्ति. कलाश्चेति मन्तव्या काव्योर्ग्यमी ।। 1/9
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कार्य: काव्यक्रियादर ।। 1/10 भामह-काव्यालङ्कार

2• नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या. कारण काव्य संपद. ।। 1/103
न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम ।। 1/104
दण्डी-काव्यादर्श

प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् । ।,3,।। ﴾वा०का० सू०﴿

आचार्य रूद्रट ने "सुन्दर काव्य की रचना में नीरस अंश के त्याग और सरस अंश को ग्रहण करने के लिए शक्ति ﴾प्रतिभा﴿ व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को आवश्यक माना है ।[1] अर्थात शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास को रूद्रट ने काव्य हेतु स्वीकार किया है । आचार्य मम्मट के अनुसार, "शक्ति अर्थात प्रतिभा और लोकव्यवहार, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता और काव्यज्ञ अर्थात् कवि तथा आलोचक से शिक्षा प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास, ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के कारण है ।[2]

अत: इस प्रकार से पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु स्वीकार करते हुए, इन तीनों हेतु की अलग-अलग ढग से व्याख्या भी किया है -- आचार्य वाग्भट ने "प्रतिभा" को काव्य का कारण मानते हुए यह स्वीकार किया है, सत्कवि को उस बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं जो सर्वसचरण शील हो अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्यों की कल्पना सहजता से कर

..... 3. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि । ।,3,।

वामन काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

1. तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारूण: करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास: ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार प्रथमोऽध्याय ﴾।4﴿

2. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। मम्मट प्रथम उल्लास ।/3

सके, कोमलकान्त पदावली को इस प्रकार चुनकर रक्खें जिससे नवीन एवं चमत्कार पूर्ण अर्थ की उद्भावना हो सके और जो स्फुरण शील भी हो इस प्रकार उत्तम कवि की बुद्धि ही प्रतिभा है ।[1] आचार्य भामह ने कवि के लिए "प्रतिभा" को ही काव्य का प्रधान साधन स्वीकार किया है । भामह के अनुसार, "गुरू के निरन्तर उपदेश देने पर भी शिष्य के हृदय में काव्य का अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता यदि उसमें प्रतिभा का अभाव है ।[2] आचार्य वामन ने 'प्रतिभा' को कवित्व का "बीज" कहा है ।[3] दण्डी ने 'प्रतिभा' के साथ ही 'अभ्यास' तथा 'शास्त्र ज्ञान' को भी आवश्यक माना है । प्रतिभा को पूर्व जन्म का संस्कार माना है ।[4] विभिन्न आचार्यों के अनुसार प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार विशेष है । प्रतिभा के सहारे ही महाकवि कालिदास ने "मेघदूत" जैसी अनुपम कृति और बाल्मीकि ने रामायण जैसे महाकाव्य की रचना की है । आचार्य रूद्रट ने प्रतिभा के स्थान पर "शक्ति" शब्द का प्रयोग किया है । इसके 2 भेद स्वीकार किये हैं । (1) सहजा और (2) उत्पाद्या ।

---

1. प्रसन्नपदनव्यार्थ युक्त्युद्बोधविधायिनी ।
   स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धि प्रतिभा सर्वतोमुखी ।। 1/4 वाग्भट
2. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
   काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत ।।

   भामह-काव्यालङ्कार 1/5
3. कवित्वस्य बीज कवित्व बीजम् । जन्मान्तरागत संस्कार विशेष. कश्चित् ।
   यस्माद्विना काव्य न निष्पद्यते । निष्पन्न वा हास्याऽऽयतन स्यात् । व

   वामन-काव्यालङ्कार—1,3,16
4. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
   श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।।

   दण्डी-काव्यादर्श - 104

जन्म से उत्पन्न होने के कारण इन दोनों में सहज प्रतिभा प्रशस्यतर है। यह सहज शक्ति अपने संस्कार के लिए अभ्यास की अपेक्षा रखती है, इसलिए प्रशस्यतर होती है। अर्जित शक्ति तो बड़े कष्ट से दूसरी व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है।[1]

मम्मट ने भी "प्रतिभा" को "शक्ति" ही स्वीकार किया है "कवित्व का बीजभूत संस्कार-विशेष प्रतिभा ही "शक्ति" है जिसके बिना काव्य रचना असम्भव है।

"शक्ति. कवित्वबीजरूप: संस्कार विशेष., या विना काव्य न प्रसरेत् ।"

मम्मट-काव्य प्रकाश - 1/3

आचार्य राजशेखर के अनुसार, "प्रतिभा शब्दों के समूह को, अर्थों के समुदाय को, अलङ्कारों एव सुन्दर उक्तियों को तथा अन्य काव्य सामग्री को हृदय के भीतर प्रतिभासित करती है। जिसमें प्रतिभा का अभाव होता है, उसके लिए प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अनेक पदार्थ परोक्ष से प्रतीत होते हैं और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं। जैसे मेधाविरुद्र एव कुमारदास आदि महाकवि जन्म से अन्धे थे, परन्तु उनके वर्णन प्रतिभा-प्रकर्ष के कारण प्रत्यक्ष किये हुए से प्रतीत होते है।[2] राजशेखर ने 2 प्रकार की प्रतिभा को स्वीकार किया है।

---

1 प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति ।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ।। 1/16

स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम् ।
उत्पाद्या तु कथंचिद्व्युत्पत्त्या जन्यते परया ।। 1/17

रुद्रट-काव्यालङ्कार

2• या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदय प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावत. पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव । यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धा: कवय: श्रूयन्ते ।।

राजशेखर-काव्यमीमासा पृ0 27

(1) कारयित्री प्रतिभा (2) भावयित्री प्रतिभा । कारयित्री प्रतिभा कवि के लिए हितकर होती है ।[1] इस प्रकार प्रतिभा को श्रेष्ठ काव्यहेतु स्वीकार करने के उपरान्त आचार्यों ने "व्युत्पत्ति को भिन्न प्रकार से व्याख्या स्वीकार किया है । आचार्य वाग्भट ने असाधारण प्रतिपत्ति को व्युत्पत्ति स्वीकार किया है । जो समस्त शास्त्रों को जानने वाला हो शब्द शास्त्र, श्रुति स्मृति, पुराणादि धर्मशास्त्र और वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्रादि जो अनेक शास्त्र है ।[2] ये सब काव्य के सहायक हेतु भी हैं । व्युत्पन्नता शब्द का अर्थ है, संस्कार मार्जन । कवि के लिए संस्कार मार्जन आवश्यक है । शास्त्रादि ज्ञान के अभाव में प्रज्ञा मलिन रहती है । आचार्य दण्डी ने "निर्मल प्रतिभा" शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में स्वीकार किया है । निरन्तर अभ्यास से तथा काव्य से सम्बद्ध विविध कलाओं के ज्ञानादि द्वारा जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त प्रतिभा में निखार उत्पन्न होता है । इस प्रकार व्युत्पन्नता का मूल हेतु "शास्त्रज्ञान" है । भामह ने "व्युत्पत्ति" को इस प्रकार से स्वीकार किया है । "व्याकरण छन्द, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार तर्कशास्त्र और कलाओं को काव्य रचना के लिए मनन करना ही व्युत्पत्ति है ।[3]

---

1. सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च । कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री । पृ0 30
राजशेखर-काव्यमीमासा

2. शब्दधमर्थिकामादि शास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका ।
प्रतिपत्तिरसमान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ।। 1/5 वाग्भट

3. "शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा: ।
लोको युक्ति: कलाश्चैति मन्तव्या काव्यैर्ह्यमी ।।
भामह-काव्यालङ्कार 1/9

आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति को ही "निपुणता" स्वीकार किया है। चराचर जगत के निरीक्षण और काव्य शास्त्र आदि के अध्ययन से निपुणता प्राप्त होती है।[1] शास्त्रज्ञानादि के लिए 'व्युत्पन्नता' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य रूद्रट ने किया है। "छन्द शास्त्र, व्याकरण, नृत्यशास्त्र लोकशास्त्र, नाममाला, कोश आदि के सम्यक् अध्ययन से उचित और अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है।[2] आचार्य राजशेखर ने काव्य मीमांसा में व्युत्पत्ति की विस्तार से चर्चा की है-- उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषा को इस प्रकार विवेचित किया है--

"बहुज्ञता व्युत्पत्ति इत्याचार्याः" अर्थात् आचार्यों के मतों मे बहुज्ञता ही व्युत्पत्ति है। राजशेखर के अनुसार, "उचित और अनुचित विषयों के प्रति विवेक करना ही व्युत्पत्ति है।"[3] आचार्य मंगल ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ माना है, क्योंकि व्युत्पत्ति के कारण कवि अपनी असमर्थता से होने वाले दोषों को छिपा लेता है --

यथा--

कवे संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्धीवित्तचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना ।।

काव्यमीमांसा - पचमोऽध्याय: पृ० 39

1• शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। 1/3 मम्मट-काव्यप्रकाश

2• छन्दोव्याकरण कला लोक स्थितिपदपदार्थ विज्ञानात् ।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ।। रूद्रट-काव्यालङ्कार 1/18

3• "उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः" इति यायावरीयः ।
पंचमोऽध्यायः पृ० 38 राजशेखर--काव्यमीमांसा

अत. इस प्रकार राजशेखर का मत है कि "प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही काव्य रचना के लिए उपकारिणी होती है । जैसे लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूप सौन्दर्य के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता ।[1]

"प्रतिभा" और "व्युत्पत्ति" की व्याख्या करने के उपरान्त आचार्यों ने "अभ्यास" को काव्य हेतु स्वीकार करते हुए इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से किया है । वाग्भट के अनुसार, "कुशल गुरु के चरणों में बैठकर अर्थात् समीप रहकर लगातार काव्य रचना के लिए जो परिश्रम किया जाता है, उसे "अभ्यास" की संज्ञा से अभिहित करते हैं ।[2]

अत इस प्रकार वाग्भट ने "प्रतिभा" को काव्य का कारण "व्युत्पत्ति" को विभूषण तथा "अभ्यास" को रचना शक्ति का शीघ्र उत्पादक के रूप में माना है ।[3] काव्य सृजन, पाठन एवं चिन्तन में निरन्तर प्रवृत्त रहने को "अभ्यास" कहा गया है । अभ्यास से ही कवि के कर्म में कुशलता की प्राप्ति होती है । "अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति" । आचार्य भामह और दण्डी ने भी "अभ्यास" को काव्य के

1• प्रतिभाव्युत्पत्ती मिश समवेत श्रेयस्यौ इति यायावरीय. । न खलु लावण्यलाभादृते रूपसम्पदृते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय ।

राजशेखर-काव्यमीमांसा पंचमोऽध्याय पृ0 40

2• अनारतं गुरूपान्ते य. काव्ये रचनादरः ।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रम. कोऽप्युपदिश्यते ।। 1/6 वाग्भट

3• प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ।। वाग्भट 1/3

मुख्य हेतु के रूप में स्वीकार किया है । भामह के अनुसार, "शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर काव्यज्ञों की उपासना कर और अन्य लेखकों की रचनाओं को देखकर काव्य प्रणयन में प्रवृत्त होना ही अभ्यास है ।[1] मम्मट ने "प्रतिभा" को शक्ति" स्वीकार करते हुए "व्युत्पत्ति" और "अभ्यास" तीनों से ही काव्य उद्भव की सम्भावना की है । इसलिए उन्होंने "हेतव." नही स्वीकार किया अपितु "हेतु." शब्द का प्रयोग किया है ।[2] आचार्य रूद्रट ने भी किसी एक हेतु को महत्व न देकर अपितु तीनों को ही महत्वपूर्ण माना है ।[3] मंगल नामक विद्वान का यह मत है कि "काव्य-निर्माण के लिए अभ्यास ही प्रधान कारण है । निरन्तर अनुशीलन का नाम ही "अभ्यास" है । अभ्यास सभी विषयों के लिए आवश्यक है और उसके द्वारा उत्कृष्टतम् कुशलता प्राप्त होती है ।[4]

अत. इस प्रकार "अभ्यास" के बिना भी काव्य रचना असम्भव है । "प्रतिभा" "व्युत्पत्ति" और अभ्यास ये तीनों काव्य हेतु एक दूसरे के पूरक हैं ।

1• शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम् ।
   विलोक्यान्यनिबन्धाश्च कार्य. काव्यक्रियादर . ।।

   भामह-काव्यालंकार 1/10

2• शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
   काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। 1/3 मम्मट-काव्य प्रकाश

3• तस्यासार निरासात्सार ग्रहणाच्च चारूण करणे ।
   त्रितयमिद व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास: ।।

   रूद्रट-काव्यालङ्कार प्रथमोऽध्याय (13)

4• "अभ्यास:" इति मगल. । अविच्छेदेन शीलनमभ्यास: । स हि सर्वगानी सद
   निरतिशयं कौशलमाधत्ते । काव्यमीमांसा -- पृ0 27 - राजशेखर

कवि-शिक्षा

कवि को काव्य रचना का अभ्यास किस प्रकार और किस ढंग से करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन आचार्य वाग्भट ने किया है, अन्य भरत, भामह, दण्डी, मम्मट, रूद्रट आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया किन्तु आचार्य राजशेखर ने'काव्य मीमांसा'में कवि-प्रकार तथा काव्याभ्यास सम्बन्धित विषयों का विधिवत विवेचन किया है । आचार्य वाग्भट के अनुसार काव्याभयासी को चाहिए कि सर्व प्रथम "बन्धचारूत्व से युक्त, निरर्थक पदसमूह के संघटन द्वारा भी यथाशक्ति समस्त छन्दों पर अपना अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करें ।" यह काव्य में किस प्रकार प्रयुक्त किया जाय तथा छन्दोबन्ध में सौष्ठव लाने के लिए आवश्यक है, कि संयुक्तवर्ण के पूर्ववर्ति "लघ्वक्षर" का "गुरूवत्" उच्चारण करना, विसर्गों का लोप न करना तथा "श्रुतिकटुत्वादि" दोषों को उत्पन्न करने वाली सन्धि का परित्याग करते रहना चाहिए ।" इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है--

शिते कृपाणे विधृते त्वया वीरे रणे कृते ।

न्रधीश क्षितिपा भीत्या वन एव गता जवात् ।।

वाग्भट- 1/9

इस पद्य में न्रधीश" शब्द "नृ" और अधीश" शब्दों की सन्धि से बना है, इसमें

---

1. बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया ।

वशीकुर्वीत काव्याय छन्दांसि निखिलान्यपि ।। 1/7

पश्चाद्गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणामलोपनम् ।

विसन्धिवर्जनं चेति बन्धचारुत्व हेतवः।। 1/8

वाग्भट

अर्णकट्ठ सन्धि है । "विधृते त्वया" में "ते" का गुरुत्व उसके बाद आने वाले संयुक्त वर्ण "त्व" के कारण नहीं, अपितु अपने आप है और "क्षितिपा भीत्या" में "पा" के बाद विसर्ग न होने से "ओजगुण" का अभाव है । अत: इन तीन कारणों से यहाँ सौन्दर्याघात "नहीं" है ।

"काव्य सृजन करने वालों के लिए आवश्यक है, कि प्रतिदिन वाग्व्यवहार में अर्थ तत्वों के संग्रह का अभ्यास करे जिससे काव्य में नये अर्थों की उद्भावना हो सके ।¹ इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है--

> "आम्यता सखे गाढमालिङ्ग्यात्र निषीद व ।
>
> सन्दिष्टं यन्निजभातृजायया तन्निवेदय ।। 1/11 वाग्भट

प्रस्तुत श्लोक "आइये" और "गाढालिङ्गन करके बैठिये" आदि शब्दों के द्वारा स्वागत करने का अर्थ ज्ञात होता है, तथा भाभी द्वारा दिये गये संदेश को पूछने से परस्पर कुशल क्षेम की चिन्ता का अर्थ निकलता है अत: यह परस्पर वार्तालाप में भी सुन्दर अर्थों के संकलन का उदाहरण है । आचार्य राजशेखर ने "काव्यमीमांसा" के अष्टम अध्याय में काव्यार्थ के श्रोत प्रस्तुत किये हैं, तात्पर्य यह है, कि कवि को वर्णनीय विषय कहाँ से और किस प्रकार लेने चाहिए, इसे स्पष्ट किया है । काव्य

---

1. अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वत: ।

अर्थसङ्कलनातत्त्वमभ्यस्येत्सङ्कथास्वपि ।। 1/10-वाग्भट

.रचना के लिए विषय या अर्थ प्राप्ति के प्रधानत: बारह स्रोत बतायें हैं- (1) वेद, (2) स्मृति (3) इतिहास (4) पुराण (5) प्रमाण-विद्या (मीमांसा और छह प्रकार के तर्क शास्त्र) (6) राजसिद्धान्तत्रयी अर्थात् अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र (7) लोक (सांसारिक या व्यावहारिक वृत्त) (8) विरचना (अन्यान्य कवियों की रचनाएँ काव्य, नाटक, महाकाव्य आदि) और (9) प्रकीर्ण (चौसठ कलाएँ) यायावरीय राजशेखर का मत है कि ये चार और मिलकर काव्यार्थ के सोलह स्रोत हैं-(1) उचित संयोग, (2) योक्तृसंयोग (3) उत्पाद्य संयोग (4) संयोग-विकार इन सबका स्पष्टीकरण यथावसर किया है ।[1]

आचार्य वाग्भट के अनुसार कीर्ति प्राप्त करने के इच्छुक कवि को अपने काव्य में अन्य कवियों की पदावली या अर्थयोजना को ग्रहण करना श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से-कवि चोर कहलाता है और अपयश को प्राप्त करता है ।[2]

---

1. "श्रुति:, स्मृति:, इतिहास:, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोको, विरचना, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनय:" इति आचार्या: । "उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन संयोगविकारेण च सह षोडश" इति यायावरीय: । पृ0 87- राजशेखर-काव्यमीमांसा

2. परार्थबन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाङ्मयकृती ।
स न श्रेयान्यतोऽनेन कविर्भवति तस्कर: ।।

वाग्भट - 1/12

नाट्यदर्पण के रचयिता आचार्य रामचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र रचना शैली का प्रतिपादन किया है, किन्तु दूसरे कवियों के पद पदार्थ का अपहरण करने वाले कवियों की कटु आलोचना करते हैं। उनकी अनेक कृतियों में इस अपहरण-प्रवृत्ति की निन्दा पायी जाती है। जो इस प्रकार से है—

"अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम्।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ।।"

रामचन्द्र गुणचन्द्र-नाट्य-दर्पण विवृति ।-।।

आचार्य राजशेखर ने "कवि" और "व्यापारी" दोनों को चोर माना है, क्योंकि ये लोग कहीं न कहीं चोरी अवश्य करते है। इनमें प्रशंसनीय वही है, जो चोरी को छिपा सके अर्थात् निन्दा न हो।

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ।।"

राजशेखर-काव्यमीमांसा- पृ0 ।53

आचार्य राजशेखर के अनुसार कवि चार प्रकार के हैं- (1) उत्पादक कवि- जो अपने प्रतिभा-बल से मौलिक रचना करते हैं, (2) परिवर्तक कवि- जो दूसरों की रचनाओं और उक्तियों का उलट फेर कर अपने शब्दों में परिवर्तित कर देतें है। (3) आच्छादक कवि- जो दूसरों की रचनाओं से किये गये हरण को छिपाने में समर्थ होते है। (4) संवर्गक कवि- जो दूसरों का अर्थाहरण करके अपने शब्दों में रखने के लिए समर्थ होते हैं।[1]

---

1. "उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः ।।"

•आचार्य वाग्भट के अनुसार किसी समस्या को सुलझाने के लिए एक कवि दूसरे कवि के पदों और भावों को ग्रहण कर सकता है । ऐसी स्थिति में "परार्थ ग्रहण दोष" नहीं माना, क्योंकि समस्यापूर्ति में कवि जिस अर्थ की रचना करता है वह प्राचीन से अनुगत होने पर नवीन प्रतीत होता है।[1] आचार्य राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा के एकादशोऽध्याय में "शब्दहरण" तथा द्वादशोऽध्याय में "अर्थहरण" का विस्तृत विवेचन किया है। "हरण" 2 प्रकार का है— §1§ परित्याज्य §2§स्वीकार्य शब्दहरण पाँच प्रकार का है—" 1§ पदहरण §2§ पादहरण §3§ अर्धहरण §4§ वृत्तहरण §5§ प्रबन्ध हरण ।[2]

"हरण" के विषय में "आचार्यों" का मत है कि "एक पद का हरण" दोष नहीं है, किन्तु यायावरीय राजशेखर के अनुसार यदि वह पद दो अर्थों वाला हो, तो वस्तुतः दोष नहीं है; परन्तु द्व्यर्थक को छोड़कर पद का हरण करना उचित नहीं ।[3]

1• परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायां गुणः कवेः ।
अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ।। 1/13-वाग्भट

2• परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबन्धो हरणम् । तद्द्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च । तयोः शब्दहरणमेव तावत्प ञ्चधा पदतः,पादतः, अर्धतः,वृत्ततः, प्रबन्धतश्च पृ0 138 राजशेखर-काव्यमीमांसा

3• "तत्रैकपदहरण न दोषाय" इति आचार्याः । "अन्यत्र द्व्यर्थपदात्" इति यायावरीयः पृ0 138

राजशेखर-काव्यमीमांसा

•आचार्य वाग्भट के अनुसार, मानसिक आह्लाद, नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, प्रभात वेला, काव्य रचना में अभिनिवेश और समस्त शास्त्रों का अनुशीलन ये पाँच अर्थस्फूर्ति के निमित्त हैं।[1] आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा के 10वें अध्याय में काव्य विद्या के शिक्षार्थी को यह संकेत किया है, कि सर्वप्रथम वह काव्योपयोगी "विद्या" और"उपविद्या" का भलीभाँति अध्ययन करके काव्य रचना करे तथा विद्वद्गोष्ठी और प्राचीन कवियों के प्रबन्धों का मनन भी और इस संदर्भ में उन्होंने कवित्व की ये आठ माताएँ हैं, इनका उल्लेख किया है-- "स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढ़ता और उत्साह"।[2] आचार्य वाग्भट ने काव्य रचना के पूर्व काव्याभ्यासी को यह संकेत किया है, कि श्लोक के पूर्वार्द्ध में ही

1• मनः प्रसत्तिः प्रतिभा प्रातः कालोऽभियोगिता ।
अनेक शास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः ।। 1/14-वाग्भट

2• नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः । कलास्तु चतुःषष्टिरुप विद्याः ।------ पुरातनकविनिबन्धाश्च । किञ्च--

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य ।।

राजशेखर- काव्यमीमांसा - पृ0 123

प्रतिपाद्य अर्थ को समाप्त कर दे तथा "तत्पुरुष" और "बहुब्रीहि" समास का प्रयोग इस प्रकार करे कि दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत हो अन्यथा "अर्थ वैपरीत्य" की आशङ्का रहती है ।[1]

नवाभ्यासी कवि भी निर्विघ्न रूप से सतत काव्य प्रणयन में संलग्न रहे, इसके लिए उनके पथ प्रदर्शन हेतु कवि परम्परा-सिद्ध मान्यताओं का संक्षिप्त उल्लेख आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार किया है-- एक ही प्रतिपाद्य वस्तु को संक्षेप और विस्तार से वर्णन करे तथा नवाभ्यासी कवि को चाहिए कि वह एक ही वस्तु का अनेक अलङ्कारों में वर्णन करने का अभ्यास करे ।[2] इसके अतिरिक्त भी यदि किसी स्थान पर "लघुवर्ण" को "गुरुवर्ण" करने की आवश्यकता हो तो वहाँ पर वैसा करना चाहिए अर्थात् "लघु वर्ण" को "गुरू" समझना चाहिए, "द्वितीय" और चतुर्थ" पाद के अन्त में तो यह नियम प्रसिद्ध है, किन्तु "प्रथम" और "तृतीय" पाद में इसको आवश्यकतानुसार स्वीकार करना चाहिए । इसके अतिरिक्त कुशल कवि को किसी भी पाद के आदि में "च" आदि अव्ययों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।[3]

---

1. समाप्तमिव पूर्वार्धे कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।
   तत्पुरुषबहुब्रीही न मिथ: प्रत्ययावहौ ।। 1/15 वाग्भट

2. एकस्यैवाभिधेयस्य समास व्यासमेव च ।
   अभ्यस्येत्कर्तुमाधानं नि:शेषालङ्क्रियासु च ।।

   वाग्भट- 1/16

3. स्यादनर्थान्तपादान्तेऽप्यशैथिल्ये लघुर्गुरु: ।
   पादादौ न च वक्तव्याश्चादय: प्रायशो बुधै: ।।

   वाग्भट-1/17

कविता में भुवनों का वर्णन तीन, सात अथवा चौदह की संख्या में करना चाहिए तथा "यश" को "शुभ्र वर्ण" और "अपयश" को "श्यामवर्ण स्वीकार करना चाहिए।[1]

इसके अतिरिक्त कुछ और भी कविप्रौढोक्तियों का वर्णन है--
इन्द्र के हाथी "ऐरावत" को शुभ्रवर्ण" तथा समुद्रों की संख्या "चार"अथवा "सात" में निर्धारित करना और दिशाओं का वर्णन चार,आठ या दश की संख्या में बतलाना चाहिए ।[2]

आचार्य राजशेखर ने'काव्यमीमासा'के पन्द्रहवें अध्याय में "गुणों का निबन्धन" कविसमय के अनुसार किया है । "यश" और "हास्य" का ससार में कोई रूप नहीं है किन्तु कविसमय के अनुसार "श्वेत" रूप में किया है । "अयश" तथा "पाप" का "कृष्ण"रूप माना है । "क्रोध" और अनुराग" आदि का वर्ण "रक्त" स्वीकार किया है।[3]

1• भुवनानि निबध्नीयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
अप्युदृश्यां सितां कीर्तिमकीर्तिं च ततोऽन्यथा ।।
वाग्भट-1/18

2• वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त वाम्बुधीन् ।
चतस्रः कीर्तयिद्वाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ।। वाग्भट-1/9

3• असतो गुणस्य निबन्धनं यथा, यशोहासप्रभृतेः
शौक्ल्यम् अयशसः पापप्रभृतेश्च कार्ष्ण्यं,
क्रोधानुरागप्रभृतेश्च रक्तत्वम् । पृ0 209

राजशेखर-काव्यमीमांसा

"यथा— प्रसरन्ति कीर्त्तयस्ते तव च -

-रिपूणामकीर्तियो युगपत् ।

कुवलयदलसंवलिता: प्रतिदिनमिव-

मालतीमाला: ।।"

राजशेखर-काव्यमीमांसा-पृ0209

यहाँ "यश" मालती के समान "श्वेत" और "अयश" नील कमल के समान "कृष्ण" रूप में अर्पित किया है ।

काव्य रचना करते समय नवाभ्यासी कवि को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए— यमक, श्लेष और चित्रादि शब्दालङ्कारों में "ब" तथा "व" और "ड" तथा "ल" में भेद नहीं है तथा अनुस्वार" और "विसर्ग" की उपस्थिति से चित्रकाव्य की हानि नहीं होती ।[1]

यमके बवयोर्डलयोरभेदो यथा—

शङ्खानैर्महीपाल कारागारविडम्बनम् ।

त्वद्वैरिभि: सपत्नीकै: श्रितं बहुविडम्बनम् ।।

वाग्भट- 1/ 21

इस श्लोक के "द्वितीय" और "चतुर्थ" पादों में "विडम्बनम्" शब्द की पुनरावृत्ति

---

1. यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ।।

वाग्भट-1/20

होने के कारण "यमक" नामक शब्दालङ्कार है । " ड " और "ल" का अभेद इस तरह स्पष्ट है, कि चतुर्थ पाद में प्रयुक्त "बहुविडम्बनम्" शब्द वास्तव में "बहुकिलम्बनम्"है किन्तु "यमक" के लिए "ल" को " ड " मान लिया है ।

श्लेष बवयोरभेदो यथा--

त्वया दयार्द्रेण विभो रिपूणा न केवलं संयमिता न बाला: ।
तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिर्मुहुर्महीपातविसराङ्गा: ।।

वाग्भट-1/22

"बाला." शब्द से स्त्री, बालक और "बालो" के अर्थ का बोध होने से "श्लेष"अलङ्कार है । अत. यहाँ पर "ब" और "व" में कोई भेद नहीं है ।

चित्रे बवयोरैक्यं यथा-

प्रचण्डबल निष्काम प्रकाशितमहागम।
भावतत्त्वविधे देव भालमत्राद्भुता तव ।।

वाग्भट-1/25

यहाँ पर "बल" के -बकार और "भाव" के "वकार" में अभेद माना है ।

सम्पूर्ण विवेचन के उपरान्त यह कहा गया है कि "निरन्तर अभ्यास के कारण जिसे अर्थों और पदों के औचित्य का"सम्यग्ज्ञान " हो गया है, वह कवि व्याकरण, अलङ्कारादि शास्त्रों का अध्ययन करे । तत्पश्चात् काव्य शास्त्र के विद्वानो द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों का पालन करते हुए, उस समय काव्य रचना करनी चाहिए जब मन शान्त और निश्चिन्त हो ।[1]

---

1. अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगादभ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्च: तं तं विदित्वा समयं कवीनां मन: प्रसत्तौ कवितां विदध्यात् ।।

वाग्भट- 1/26

गुण-विवेचन

गुण शब्द का अर्थ है, सत्व और शौर्य जैसे व्यक्ति विशेष में उसके सत्व ॥महाप्राणता॥ और शौर्य अर्थात् शारीरिक कान्ति और प्रभावशाली व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं, ऐसे ही काव्य की पदावली या कवि द्वारा किये गये शब्द विन्यास में जो उसकी अर्थप्राणता को अभिव्यक्त करता है, उसे "गुण" की संज्ञा से अभिहित किया गया है[1]।

प्राचीन काल में गुणों का स्वरूप न तो अधिक विकसित था और न ही वैज्ञानिक जितना की बाद में परवर्ती काव्य शास्त्रियों ने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से बना दिया। वस्तुतः आदि काल में गुणों का प्रयोग प्रशंसा के लिए होता था। डा० वी० राघवन ने लिखा है कि "काव्य में गुणों का स्वरूप अतिप्राचीन है। गुण काव्य के प्रशंसा की निरन्तर अभिव्यक्ति हैं। संगीत तथा काव्य का आनन्द प्राप्त करने वाले सहृदय सामाजिक के लिए माधुर्य एक प्राथमिक गुण है। वैदिक साहित्य में माधुर्य, ओज आदि गुणों का प्रयोग प्रशंसा परक है[2]।

1· अमरकोश 3/3/47
नौर्व्या द्रव्याश्रिते सत्वशौर्य सन्ध्यादिके गुण. ।

2· **The Guna Mode of literary appreciation is the most ancient, the extrolling of a good thing through a Guna having the most spontaneous expression of appreciation Madhurya or sweetness is the earliest Guna for when one enjoys music or poetry, the first expression of his joys takes the from of precising what has enthralled him as sweet.**

V. RAGHAVAN Bhoja's Srinagara Prakasa P. 249

आदि-काव्य रामायण में जब दोनों बालक रामायण का गान करते करते है, तो उस समय उपस्थित समस्त ऋषिगण अलौकिक आनन्द से झूम उठते हैं--

"अहोगीतस्य माधुर्य श्लोकनांच विशेषतः चिरनिर्वृत्तमव्येतप्रत्यक्षमिव दर्शितम्।।
1/4/16 रामायण

रामायण जो कि आदि काव्य है उसमें माधुर्य ओज और प्रसाद की मधुर त्रिवेणी प्रवहयमान है। महाभारत में परूष, मधुर, विचित्र पद पूर्ण विशेषण का उल्लेख मिलता है।

कालिदास के साहित्य में श्लेष, प्रसाद, मधुर, ओज आदि वाणी विशेषणों का कथन है। काव्य के गुणों को रूद्रदामन के गिरनार शिलालेख (150 ई०) में शब्द समय कहा गया है। शब्द समय का अर्थ हुआ काव्य का शब्द सिद्धान्त --

"स्फुटलघुमधुरचित्रकांतशब्द समयोदाराऽलकृत "
गद्य-पद्य (काव्य-विधान-प्रवीणे) न, प्रमाण -

मानान्मान-स्वर-गति, वर्ण्य-सारस्वत्वादिभि.।

अर्थात् उस समय की गद्य पद्य की रचना में स्फुट, लघु, मधुर चित्र, कान्त शब्द सिद्धान्तों का विस्तार उनको अलङ्कृत करता है। इस प्रकार शब्द विन्यास के विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा काव्य वाणी को अलङ्कृत करने की रुचि उन कवियों में जागृत हुई होगी, जो विदग्ध गोष्ठियों में या सारस्वत समाजों में या राजा की कवि सभाओं में अपनी काव्य सूक्तियाँ सुनाकर उसके विचित्र शब्द प्रयोग की ओर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहते रहे होंगे। सारस्वत समाजों का उदय वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना के पूर्व हुआ, इसलिए पहली शती ई० के पूर्व

गुणों के सौन्दर्य से मण्डित काव्यसूक्तियों की रचना का शुभारम्भ स्वीकार किया है।

जैन साहित्य के अनुयोगद्वार सूत्र ने भाषा के निम्नलिखित आठ गुणों का उल्लेख किया है --
निर्दोष, सारस्वत, हेतुमत, अलङ्कृत, उपनीत सोपचारमित एवं मधुर। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार, राजकीय लेखन की भाषा में छः विशेषताएँ मानी गयी हैं -- "क्रमबद्धता, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य एव स्पष्टता।"

अत. इस प्रकार से यह स्वीकार किया जाता है, कि प्रारम्भिक काल में काव्य की भाषिक प्रतीति को उसके विशेषण वैशिष्ट्य के द्वारा माना गया है।

गुण-सिद्धान्त के विषय में आचार्य वाग्भट ने प्राचीन आचार्यों के ही मतों का समर्थन किया है। भामह, दण्डी, वामन आदि की भाँति ~~इन्होंने~~ वाग्भटने गुण को काव्य में शोभाधान करना तथा भावात्मक रूप में स्वीकार किया है। गुण का प्रयोजन बताते हुए आचार्य वाग्भट कहते है-- "जिन औचित्यादि गुणों के बिना अनर्थकत्व, श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित भी शब्द और अर्थ श्लाघनीय अर्थात् श्रेष्ठ नहीं माने जाते उन गुणों का यथा शक्ति वर्णन किया है[1]। आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी "धर्म" अलङ्कार हैं[2]। इस प्रकार श्लेषादि गुण और उपमादि अलङ्कार दोनों ही

---

1. अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।
   तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान्॥
   वाग्भट-3/1

2. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
   दण्डी -काव्यादर्श 2/1

दण्डी के अनुसार अलङ्कार शब्द से वाच्य है । अत. काव्य के शोभाधान उन विशिष्ट अलङ्कारों का नाम गुण है जो शब्दार्थ प्रयोग के रूप में काव्यशैली (मार्ग) के व्यवच्छेदक तत्व है । गुण को मार्ग विभाजक 'असाधारण धर्म' और अलङ्कार को 'साधारण धर्म' स्वीकार करते हैं । आचार्य वामन ने भी गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार किया और दोष को गुणभावस्वरूप माना है[1] । वामन ने काव्य में गुण का महत्वपूर्ण स्थान दिया है तथा गुण को उत्कृष्ट काव्य का आवश्यक धर्म स्वीकार किया है[2] । गुण काव्य की आत्मा रीति में वैशिष्ट्य का आधान करने वाला धर्म है[3] । आचार्य मम्मट के अनुसार "आत्मा के शौर्यादि की तरह काव्य के आत्मस्थानिय और अङ्गी प्रधान तत्व रस के उत्कर्षाधायक और नित्य धर्मों का नाम गुण है । रस में अव्यभिचारी (नित्य) स्थिति रखते हुए जो रस के उपकारक हैं, उन्हें गुण की संज्ञा से अभिहित किया है[4] ।

---

1. गुण विपर्ययात्मनो दोषा. ॥ 2,1,1

   वामन- काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

2. काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा गुणा: ॥ 3,1,1

   वामन-काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

3. विशेषो गुणात्मा ॥ 1,2,8

   वामन- काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

4. ये रसस्याङ्गिनोधर्मा: शौर्यादय इव आत्मन:
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा. ॥

   - मम्मट-काव्यप्रकाश 87

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों के मत अलग-अलग हैं । आचार्य वाग्भट[1] ने गुणों की संख्या भरत[2] और दण्डी[3] की भाँति दस गुण स्वीकार किया है उदारता, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि,श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता आदि। वामन ने गुणों की संख्या बीस माना है, 10 शब्द गुण और 10 अर्थगुण । आचार्य भामह, आनन्दवर्धन और मम्मट ने त्रयगुण को स्वीकार किया है-- ओज, प्रसाद और माधुर्य । अग्निपुराणकार के अनुसार गुणों के सामान्यत: 3 भेद हैं-- (1) शब्दगुण (2) अर्थगुण (3) शब्दार्थ अर्थात् उभयगुण ।

शब्दगुण---- श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य, यौगिकी ।

अर्थगुण--- माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि, सामयिकत्व ।

1• औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।

समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्य सुकुमारता ।। 3/2 वाग्भट

2• श्लेषः प्रसाद. समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्यगुणा दशैते ।। 16/96

भरत-नाट्यशास्त्र

3• श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ।।

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृता' । 1/41

दण्डी-काव्यादर्श

शब्दार्थगुण-- प्रसाद, सौभाग्य, यथासख्य, प्रशस्ति, पाक, राग

अग्निपुराण का गुण वर्णन परम्परा से भिन्न है । ओज, प्रसाद और माधुर्य में 10 गुणों का अन्तर्भाव निम्न प्रकार से हुआ है ।

'ओज गुण' में श्लेष, उदारता, प्रसाद, समाधि इन गुणों का समावेश होता है । 'प्रसाद गुण' में कान्ति तथा सुकुमारता का अन्तर्भाव माना है । 'माधुर्य गुण' का अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व है । आचार्य हेमचन्द्र ने ओज, प्रसाद, माधुर्य साम्य और औदार्य ये पाच पाठगुण माने हैं ।

गुणों की संख्या के पश्चात् आचार्यों ने गुणों का विवेचन निम्न प्रकार से किया है । आचार्य वाग्भट ने गुणों की सत्ता भावात्मक स्वीकार करते हुए इन दस गुणों का यथोचित् वर्णन किया है-- "उदारता, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता"[1] ।

उदारता-- "जहाँ एक पद दूसरे पद के साथ मिला रहता है तथा अर्थ की सुन्दरता को प्रकट करता है, वहाँ वाग्भट ने औदार्य नामक गुण स्वीकार किया है[2] । इसे

---

1. औदार्य समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।

   समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्य सुकुमारता ।। 3/2- वाग्भट

2. पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।

   मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृत यथा ।। 3/3

   वाग्भट

उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

"गन्धेभविभ्राजितधाम श्रीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ।।
3/4 वाग्भट

इस श्लोक में चारुत्वप्रत्यायक "गन्ध" शब्द के साथ अन्य सुन्दर पद "इभ" "लीलाम्बुज" शब्द के साथ "छत्र" और "क्रीड़ा" के साथ "गिरौ" शब्द अर्थ में चारुता का आधान करते हैं । अतः इसमें औदार्य नामक गुण है ।

आचार्य भरत ने उदारत्व को दिव्य भावमय शृङ्गार एवं अद्भुत रसों से युक्त एवं अनेक भावों से संयुक्त स्वीकार किया है[1]। आचार्य दण्डी ने "उदारता" में उत्कर्षवान गुण की प्रतीति को आवश्यक माना है[2]। दण्डी ने "उदार" गुण का लक्षण "उदात्त" अलङ्कार के समान माना है । उदात्त अलङ्कार में आशय का उत्कर्ष एवं वस्तूत्कर्ष विभूति का होना आवश्यक है[3]। आचार्य वामन के अनुसार

---

1. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम् ।
अनेकभावसंयुक्तमुदारत्वं प्रकीर्तितम् ।। भरत-नाट्शास्त्र 16/110

2. उत्कर्षवान गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः (काव्यपद्धतिः) ।। 1/76
दण्डी –काव्यादर्श

3. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्वमनुत्तमम् ।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः ।। 2/300-पृ0 276
दण्डी काव्यादर्श

शब्दात उदारता गुण शब्द-नृत्य है । रचना की विकटता उदारता गुण है अर्थात्
उदारता गुण में सजातीय वर्णों का इस प्रकार गुम्फन होता है कि सभी वर्ण मिलकर
नृत्य करते हुए मालूम पड़ते हैं।[1] वामन के अर्थात उदारता गुण में "ग्राम्यत्व" दोष
का अभाव माना है[2]।

समता--- "बन्ध में पदों के अविषम होने पर जो गुण उत्पन्न होता है उसको
समता नामक गुण वाग्भट ने माना है[3]। अत: दण्डी का ही अनुसरण वाग्भट ने
किया है । यथा --

उदाहरणमाह --

"कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारा -
मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्लि: ।
असदृशमहिमान तानन्योपमेयां ।
कथय कमनहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ।।

वाग्भट 3/6

यहाँ पर "कुच"के साथ"कलश""विसारि" के साथ "स्फार" आदि ऐसे पद का प्रयोग
किया गया है । इससे प्रतीत होता है, कि इस स्थान पर यही शब्द स्वाभाविक

1• विकटत्वमुदारता । 3/1/23

वामन काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

2• अग्राम्यत्वमुदारता । 3/2/13

वामन-काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति ।

3• बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधै: ।

वाग्भट 3/5

रूप से आना चाहिए । अतः इन पदों के प्रयोग से बन्ध में उत्पन्न मधुरिमा से "समता" नामक गुण माना है ।

नाट्यशास्त्र में "समता" गुण के दोनों पाठों में भिन्न-भिन्न लक्षण प्राप्त होते हैं । एक पाठ के अनुसार "समता" गुण वहाँ होता है, जहाँ अत्यन्त "चूर्ण-पद" नहीं हो तथा आवश्यक और दुर्बोध पदों का अभाव हो[1] । दूसरे पाठ के अनुसार, जहाँ गुण एवं अलङ्कार में पारस्परिक सादृश्य हो तथा एक दूसरे को आभूषित करता हो वहाँ "समता" नामक गुण स्वीकार किया है[2] ।

दण्डी ने भरत के "समता" गुण की परिभाषा से असहमत होकर नवीन लक्षण की कल्पना इस प्रकार से स्वीकार किया है, "बन्ध का अवैषम्य समता नामक गुण है । बन्ध तीन प्रकार के होते हैं-- मृदु, स्फुट और मध्यम किसी एक बन्ध का आद्यन्त समभाव से निर्वाह "समता" नामक गुण है[3] । आचार्य वामन भी शब्दगत समता गुण के स्वरूप का निर्धारण दण्डी की समता धारणा को ही अपनाया है अर्थात् मार्गा भेद को वामन ने शब्दगत समता गुण माना है[4] । यह काव्य की शैलीगत

1· नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभिः ।
दुर्बोधनैश्च न कृता समत्वात् समता मता ।।
भरत-नाट्यशास्त्र 16/100

2· अन्योन्यसदृशा यत्र तथाह्यन्योन्यभूषणाः ।
अलङ्कारा गुणश्चैव समाः स्युः समतां मताः ।।
भरत- नाट्यशास्त्र 16/101

3· समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः ।
बन्धा मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ।।दण्डी काव्यादर्श-1/47

4· मार्गा भेदः समता ।।3/1/12 वामन काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

दण्डी के अनुसार "लोक की वस्तु का स्वाभाविक वर्णन "कान्ति" नामक गुण है तथा जो समस्त ससार को प्रिय है और लौकिक अर्थ का अतिक्रमण नहीं करता वही कान्त है । यह साधारण बातचीत तथा वर्णन में मिलता है[1]। आचार्य वामन ने शब्दगत "कान्ति" गुण को औज्ज्वल्य कहा है । जब पद में कान्ति नहीं रहती तो वह पुराने चित्र के समान मालूम होता है[2]। यह पद की चमत्कृति का गुण है । अर्थगुण "कान्ति" को वामन ने दीप्त रसत्व स्वीकार किया है[3]। शृङ्गार आदि रस दीप्त होते है, इस प्रकार वामन के रस को "कान्ति" नामक अर्थगुण माना है । वामन की कान्तिगुण धारणा भरत के "उदार गुण" से प्रभावित है ।

अर्थव्यक्ति-- जहाँ अर्थ को समझने में किसी प्रकार का किन नहीं रहता वहाँ "अर्थव्यक्ति" नामक गुण होता है[4]। आचार्य वाग्भट ने इसे दण्डी की भाँति अर्थ का अनेयत्व माना है । यथा --

"त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा ।"

वाग्भट 3/8

सूर्यास्त होने से रात्रि का आगमन स्वाभाविक है । इसको समझने के लिएकिसीप्रयास

---

1. कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात् ।
   तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते ।। 1/85

   दण्डी-काव्यादर्श

2. औज्ज्वल्यं कान्तिः । 3/1/25

   वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

3. दीप्त रसत्व कान्तिः । 3/2/15

   वामन -काव्यालङ्कार-सूत्र वृत्ति

4. यदज्ञेयत्वनर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।

   वाग्भट- 3/8

की आवश्यकता नहीं होती है। अतएव इस पद्य में अर्थव्यक्ति नामक गुण है । आचार्य भरत के अनुसार, "लोक के स्वाभाविक कार्य का सुप्रसिद्ध धातु से वर्णन अर्थव्यक्ति नामक गुण में होता है[1]। इस अर्थव्यक्ति गुण का लक्षण "स्वभावोक्ति" अलङ्कार से मिलता है । अतः मम्मट ने अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव स्वभावोक्ति" अलङ्कार में माना है[2] । आचार्य दण्डी ने अर्थव्यक्ति गुण को वैदर्भ और गौड मार्गों का गुण माना हैं । आचार्य दण्डी के अनुसार अर्थ में "नेयत्व" का जहाँ अभाव रहे वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है[3]। अर्थात् जहाँ प्रयुक्त पद से ही अर्थ की उपस्थिति हो वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है । दण्डी ने 'शब्दगत' अर्थव्यक्ति गुण को 'प्रसाद गुण' के समान और 'अर्थगत' अर्थव्यक्ति गुण को 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार के समान स्वीकार किया है । आचार्य वामन की मान्यता भरत की मान्यता के समान है । वामन ने अर्थ प्रतीति के हेतुभूत गुण को शब्दगत अर्थव्यक्ति कहा है । जहाँ अर्थ की शीघ्र प्रतीति का हेतुत्व है, वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है[4]। अर्थात अर्थव्यक्ति गुण

---

1. सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
   या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ।।

   भरत-नाट्यशास्त्र- 16/108

2. अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण (रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च) वस्तुस्वभाव-स्फुटत्व-रूपार्थव्यक्तिः (दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च) स्वीकृता ।।

   मम्मट- काव्यप्रकाश-8, पृ0 195

3. अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता ।
   भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ।। 1/73

   दण्डी -काव्यादर्श

4. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ।। 3/1/24
   यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्ति हेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति ।।

   वामन-काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति।

को वामन ने वस्तुस्वभाव की स्फुटता माना है[1]। आचार्य भोज की "शब्दगत" अर्थव्यक्ति गुण का स्वरूप, दण्डी के अर्थव्यक्ति गुण के समान है और "अर्थगत" अर्थव्यक्ति गुण वामन की धारणा के समान है। भोज ने अर्थव्यक्ति गुण को "सम्पूर्णवाक्यत्व" स्वीकार किया है[2]।

प्रसन्नता-- प्रसन्नता गुण को प्रसाद गुण माना है। इसके लक्षण को वाग्भट ने रसवादी आचार्यों की मान्यता के अनुरूप ही इसे शीघ्र अर्थावबोध कराने वाला गुण स्वीकार किया है[3]। यथा --

कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिन.।

वाग्भट 3/10

जिनदेव कल्पतरु की भाँति अभिलषित फल को देने वाले हैं, उनकी दानशीलता तुरन्त स्पष्ट हो जाती है। अतः यहाँ पर "प्रसन्नता" नामक गुण माना गया है।

सभी आचार्य यह स्वीकार करने के लिए एकमत हैं कि प्रसाद गुण में सर्वजन सुबोध पदों का प्रयोग होना चाहिए। ध्वनि प्रस्थान के आचार्यों ने इसकी गणना रसगत तीन गुणों में किया है-- ओज, प्रसाद, माधुर्य।

---

1. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्ति.॥ 3/2/14

वामन- काव्यालंकार सूत्र वृत्ति

2. यत्र सम्पूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।

भोज-सरस्वती कण्ठाभरण पृष्ठ 90

3. झटित्यर्थार्पकत्व यत्प्रसत्तिः सोच्यते बुधैः।

वाग्भट- 3/10

आचार्य भरत ने अनुक्त अर्थ की प्रतीति में प्रसाद गुण माना है । यह सुबोध शब्द और अर्थ के संयोग के कारण होता है[1]। 'प्रसाद गुण' धारणा के विषय में भामह और दण्डी के विचार परस्पर मिलते हैं । भामह ने प्रसाद गुण उस रचना में माना है जो विद्वान से लेकर नारी और शिशु तक के लिए बोधगम्य हो[2]। आचार्य दण्डी ने प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग को प्रसाद गुण स्वीकार किया है[3]। आचार्य वामन 'शब्दगत' प्रसाद गुण को बन्ध का "शैथिल्य" मानता है[4], तथा 'अर्थगत' प्रसाद गुण को अर्थ का "वैमल्य" कहा है[5]। भोज की शब्दगत प्रसाद गुण धारणा दण्डी की प्रसाद

---

1. अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थोवाप्रतीयते ।
 सुखशब्दार्थसंयोगात्प्रसादः परिकीर्त्यते ।। 16/99
 भरत-नाट्यशास्त्र

2. अविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत् ।
 भामह-काव्यालङ्कार 2,3

3. प्रसादवत् प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
 दण्डी-काव्यादर्श 1,45

4. शैथिल्यं प्रसाद. । 3/1/6
 वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

5. अर्थवैमल्यं प्रसादः । 3/2/3
 वामन-काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

गुण धारणा से प्रभावित है। शब्दगत प्रसाद गुण को "प्रसिद्धार्थपदत्व" अर्थात् जिसका अर्थ विख्यात हो, यह स्वीकार किया है।[1] "अर्थगत प्रसाद गुण भरत की प्रसाद गुण धारणा से प्रभावित है। भोज ने "अर्थ-प्राकट्य" को अर्थगत प्रसाद गुण माना है[2]।

आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण को सभी रसों का गुण माना है। मम्मट के अनुसार सूखी लकड़ी में आग की भाँति एवं स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो तुरन्त ही चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह सभी रसों में रहने वाला प्रसाद गुण होता है[3]। इसमें माधुर्य एवं ओज दोनों गुणों का स्वभाव समाहित है।

समाधि-- जहाँ पर एक वस्तु के गुण का आधान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है, वहाँ "समाधि" नामक गुण होता है।[4]

यथा --

"यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राज. पल्लवितं यश: ।" 3/11

वाग्भट

अत: पल्लवित होना लतादि का गुण है, न कि यश का किन्तु कवि ने पल्लवित होने की विशेषता को राजा के यश से नियोजित करके समाधिगुण स्वीकार किया है। यहाँ पर 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार की प्रतीति होती है।

---

1. प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते । 1/66
   भोज-सरस्वती कण्ठाभरण
2. यत्तु प्राकट्यमर्थस्य प्रसाद: सोऽभिधीयते ।। पृ0 ।।2
   भोज — सरस्वती कण्ठाभरण
3. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव य. ।
   व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति: ।।
   मम्मट-काव्यप्रकाश8/70
4. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते 3/11-वाग्भट

अतः वाग्भट ने समाधिगुण का लक्षण दण्डी की भाँति माना है । आचार्य दण्डी के अनुसार, "जिस काव्य में लोकव्यवहार की सीमा का अनुपालन करते हुए किसी वस्तु के गुण, क्रिया आदि धर्म का उससे भिन्न (गौण) वस्तु में आरोपित किया जाता है, वह काव्य 'समाधि गुण' युक्त होता है[1]। दण्डी का प्रस्तुत गुण 'अतिशयोक्ति अलङ्कार से अभिन्न प्रतीत होता है। मम्मट ने प्रस्तुत का निगरण करने वाले अप्रस्तुत के वर्णन में अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है[2]। अतः दण्डी ने समाधि गुण को "काव्यसर्वस्व" कह कर गुणों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है । आचार्य वामन ने समाधि गुण को "आरोह एव अवरोह" का क्रम स्वीकार किया है।[3] आचार्य भोज ने शब्दगत समाधि गुण में अन्य धर्म का अन्यत्र आरोप वाञ्छनीय माना है[4]।

---

1. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
   सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।।
   दण्डी–काव्यादर्श – 1/93

2. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
   विज्ञेयातिशयोक्ति. सा ।। 10/100
   मम्मट– काव्यप्रकाश

3. आरोहावरोहक्रमः समाधिः 3/1/13
   वामन–काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

4. समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् । 1/72
   भोज–सरस्वतीकण्ठाभरण

श्लेष - जिस अलङ्कार में अनेक पद परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं, वहाँ श्लेष गुण आचार्य वाग्भट ने माना है,[1] अर्थात् वाग्भट ने वामन के शब्दश्लेष "मसृणत्व" से भिन्न नहीं माना है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

"मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम्।
दरोद्गच्छद्भङ्गिरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेक कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे।। 3/13-वाग्भट

इस श्लोक में "मुदा यस्योद्गीत" आदि जितने पद हैं, वे एक सूत्र में पिरोयी मोतियों की भाँति शोभित हो रहे है। क्योंकि इसमें कोई भी पद ऐसा नहीं है, जो दूसरे के साथ अस्वाभाविक और अवाछनीय हो, एक के बाद दूसरा पद अनायास ही निकल पड़ता है। अतः सभी पदों के परस्पर संश्लिष्ट होने से यहाँ पर श्लेष गुण है। आचार्य भरत ने श्लेष के दो रूप स्वीकार किये हैं, प्रथम में विवक्षित अर्थ से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता तथा द्वितीय लक्षण के अन्तर्गत स्वाभाविक स्फुटता में विचारगत गहनता है।[2] आचार्य दण्डी ने शैथिल्य रहित रचना में श्लेष

---

1. श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम्। 3/12
--वाग्भट

2. ईप्सितेनार्थजातेन संबद्धाना परस्परम्।
श्लिष्टता या पदाना हि श्लेष इत्यभिधीयते। 16/97
विचारगहन यत्स्यात् स्फुटञ्चैव स्वभावतः।
स्वतः सुप्रतिबद्धञ्च श्लिष्ट तत्परिकीर्त्यते।।
भरत-नाट्यशास्त्र - 16/98

गुण माना है । शैथिल्य उस रचना को स्वीकार करते हैं, जो अल्पप्राण वर्णों की प्रचुरता से युक्त तथा महाप्राण वर्णों एवं संयुक्ताक्षरों से रहित हो[1]। आचार्य वामन ने मसृणत्व को शब्द श्लेष स्वीकार किया है[2]। जहाँ बहुत पदों के होने पर भी एकपदता का भान हो, उसे मसृणत्व कहते हैं। वामन ने अर्थगत श्लेष को घटना माना है[3]। वामन ने घटना की व्याख्या "क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्तियोग" के रूप में किया है। भोज ने श्लेषगुण के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई नई कल्पना नहीं की है, "शब्दगत" श्लेष को "सुश्लिष्टपदता" कहकर वामन के मत को ही स्वीकार किया है[4]। अर्थगुण श्लेष को भोज ने "संविधान गत सुसूत्रता" माना है[5]।

---

1. श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम् ।।

दण्डी काव्यादर्श-1/43

2. मसृणत्व श्लेषः । 3/1/11

वामन -काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

3. घटना श्लेषः । 3/2/4

वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

4. गुणः सुश्लिष्टपदता श्लेष इत्यभिधीयते ।

भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण- पृ० 82

5. तेषां श्लेष इति प्रोक्तः संविधाने सुसूत्रता ।।

भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण 1/78

ओज-- आचार्य वाग्भट ने ओज गुण का लक्षण दण्डी की भाँति स्वीकार किया है। "समासभूयस्त्व" कहकर समासबहुला पदावली से ओज गुण उत्पन्न माना है । ओजगुण गद्य में ही शोभित होता है पद्य में नहीं[1]। यथा --

"समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिर:सरस-
सिन्दूरपूरपरिचयेनेवारूणितकरतलो देव ।।"
वाग्भट- 3/14

अत. यह गद्यांश समासबहुल होने से "ओज" गुण का उदाहरण है और इसमें गौडी रीति है । आचार्य भरत और भामह की तरह दण्डी ने भी ओज गुण को समासभूयस्त्व स्वीकार किया है । दण्डी के अनुसार समस्त पदों की बहुलता "ओज गुण" है, इसे गद्य का प्राण माना है तथा गौड पद्य में भी इसी {ओजगुण} का अवलम्बन लेते हैं[2]।

आचार्य वामन के अनुसार पद रचना की गाढ़ता शब्दगत ओज गुण है,[3] अर्थात् अक्षर विन्यास की पारस्परिक संश्लिष्टता को बन्ध की गाढता मानी है ।

1• ओज: समासभूयस्त्व तद्गद्येष्वतिसुन्दरम् ।

वाग्भट- 3/12

2• ओज. समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ।

- दण्डी-काव्यादर्श- 1/80

3• गाढबन्धत्वमोज: 3/1/5

वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

अर्थगत ओज गुण को वामन ने अर्थ की प्रौढता स्वीकार किया है[1]। यह प्रौढी पाँच प्रकार की मानी गयी है। पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे पदाभिधा, व्यास, समास तथा साभिप्रायत्व[2]। भोज ने शब्दगत ओज गुण धारणा दण्डी की भाँति स्वीकार कियाहै,[3] तथा "स्वाध्यवसाय" प्रतिपादन को अर्थगत ओज गुण माना है[4]। आचार्य मम्मट के विचार इन सभी आचार्यों से भिन्न हैं। ओज गुण को चित्तवृत्ति के विस्तार का गुण माना है। यह माधुर्य गुण से विपरीत स्वभाव का होता है तथा यह वीर रस में रहता है[5]। यह चित्त को प्रज्वलित करने वाला ओज गुण है।

माधुर्य-- वाग्भट ने दण्डी की भाँति इस गुण को स्वीकार किया है। सरस अर्थ के प्रत्यायक पदों के प्रयोग से माधुर्य गुण उत्पन्न होता है[6] अर्थात् रसयुक्त पद

---

1. अर्थस्य प्रौढिरोज. । 3/2/2

वामन -काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

2. पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।

प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च ।।3/2/2

वामन-काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

3. ओजः समासभूयस्त्वम् । ।/10

भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

4. ओजः स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेषु यो भवेत् । ।/82

भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

5. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।। 8/69

मम्मट-काव्यप्रकाश

6. सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।। वाग्भट- 3/15

माधुर्य गुण में होता है ।

यथा--

फणमणिकिरणालीस्यूतचन्द्रवीन्निवोल: कुचकलशनिधानस्येव रक्षाधिकारी ।
उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहान: किनिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्या: ।।

3/16 -वाग्भट

इस श्लोक में जितने पदों का प्रयोग किया गया है, वह सभी रसयुक्त अर्थात् सरस अर्थ के बोधक हैं। अत यहाँ माधुर्य गुण की उपस्थिति मानी गयी है ।

आचार्य भरत के अनुसार "माधुर्य" काव्य का वह गुण है, जिसको बार-बार सुनने पर भी मन उद्विग्न नहीं होता[1] भामह भी भरत की धारणा से सहमत हैं । माधुर्य गुण के लिए पदों का श्रुति-मधुर होना तथा अल्पसमास युक्त होना आवश्यक माना है[2]। आचार्य दण्डी ने सरस वाक्य को माधुर्य गुण स्वीकार किया है[3] अर्थात् माधुर्य गुण को रस का स्वरूप माना है ।

1• बहुशो यच्छ्रुत वाक्यमुक्तं वापि पुन: पुन: ।
नोद्वेजयन्ति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।। 16/104
भरत -नाट्यशास्त्र

2• श्रव्य नातिसमस्तार्थं काव्य मधुरमिष्यते ।
भामह-काव्यालङ्कार 2/3

3• मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति. ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता. ।।
दण्डी-काव्यादर्श 1/51

आचार्य वामन ने शब्दगत माधुर्य गुण की धारणा भामह से लिया है । वामन ने शब्दगत माधुर्यगुण को "पृथक्पदता" स्वीकार किया है । इसमें दीर्घ समासों का अभाव रहता है[1] । अर्थगुण माधुर्य को वामन ने "उक्तिवैचित्र्य" माना है[2] । भोज ने शब्दगत माधुर्य गुण की धारणा वामन से लिया है । भोज के अनुसार "पृथक्पदता" ही माधुर्य गुण है[3] । अर्थात माधुर्य गुण का लक्षण भोज ने इस प्रकार से स्वीकार किया है, "क्रोध आदि के वर्णन में तीव्रता का अभाव हो[4] । आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण को "आह्लादकत्व" स्वीकार किया है । मम्मट के अनुसार, चित्त के द्रवीभाव का कारण और श्रृंगार रस में रहने वाला जो आह्लाद स्वरूपत्व है, वह माधुर्य गुण है[5] ।

सौकुमार्य-- जिस वाक्य पद में कोमल वर्णों का बाहुल्य हो,वहाँ आचार्य वाग्भट ने "सौकुमार्य" नामक गुण स्वीकार किया है[6] यथा---

---

1. पृथक्पदत्व माधुर्यम् 3/1/21
   वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

2. उक्तिवैचित्र्य माधुर्यम् । 3/2x11
   वामन- काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

3. या पृथक्पदता वाक्ये तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ।
   भोज-सरस्वती कण्ठाभरण 1/78

4. माधुर्यमुक्तमाचार्यैः क्रोधादावप्यतीव्रता ।
   भोज-सरस्वती कण्ठाभरण- पृ0 114

5. आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।।
   मम्मट-काव्यप्रकाश- 8/68

6. अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा। 3/15
   वाग्भट

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव त्वदीय करवाल एष.।

नो वेदनेन द्विषतां कुशानि श्यामायमानानि करोति ।। 3/17

वाग्भट

श्लोक में कवि ने "करवाल" की कठोरता का वर्णन किया है, अतः यहाँ कर्कश शब्दों का प्रयोग होना चाहिए अर्थात् कठोर वर्णों का, लेकिन यहाँ सभी कोमल वर्णों का आश्रय लिया गया है । इससे कृपाण की कठोरता स्पष्ट प्रतीत होती है, अत. कोमल वर्णों के प्रयोग से यहाँ "सौकुमार्य" नामक गुण की उपस्थिति है ।

आचार्य भरत ने सौकुमार्य गुण को शब्दगत और अर्थगत दोनों ही माना है। कोमल शब्दों का प्रयोग शब्दगत सौकुमार्य गुण तथा कोमल अर्थ का वर्णन अर्थगत सौकुमार्य गुण है । आचार्य भरत ने सुखपूर्वक उच्चरित होने वाले तथा सुश्लिष्ट संधि वाले शब्दों में एवं अर्थ की सुकुमारता में सौकुमार्य गुण की उपस्थिति मानते हैं[1]। आचार्य दण्डी ने अनिष्ठुर अक्षरों से युक्त पद को सौकुमार्य गुण माना है, अर्थात् कोमल वर्णों के प्रयोग को सुकुमारता स्वीकार किया है। वर्णों के अत्यन्त कोमलता को दण्डी अस्वीकार करते हैं, क्योंकि जहाँ सभी वर्ण कोमल होंगे वहाँ

---

1. सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।

सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ।। 16/107

भरत-नाट्यशास्त्र

बन्ध में शिथिलता के आ जाने से दोष होगा[1]। वामन की शब्दगत सौकुमार्य गुण की धारणा पूर्ववर्ती आचार्यों से अभिन्न है। श्रुतिसुखद पदावली की योजना को वामन ने शब्दगत सौकुमार्य गुण माना है, अर्थात् बन्ध की अजरठता या कोमलता को वामन ने "सौकुमार्य" गुण माना है[2]। अर्थगत सौकुमार्य गुण को वामन ने "अपारुष्य" अर्थात् कठोरता का अभाव माना है[3]। आचार्य भोज ने दण्डी की सौकुमार्य गुण की धारणा को यथावत् स्वीकार किया है, अनिष्ठुर अक्षरों से पूर्ण रचना को भोज ने सौकुमार्य गुण स्वीकार किया है[4]। अर्थगत सौकुमार्य गुण को भोज ने "अनिष्ठुरत्व" माना है[5]।

---

1. अनिष्ठुराक्षरप्राय सुकुमारमिहेष्यते
   बन्धशैथिल्यदोषोऽपि दर्शितः सर्वकोमले ।। 1/69
   - दण्डी-काव्यादर्श
2. अजरठत्व सौकुमार्यम् । 3/1/22
   वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति
3. अपारुष्य सौकुमार्यम् । 3/2/12
   वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति
4. अनिष्ठुराक्षरप्राय सुकुमारमिति स्मृतम् ।
   भोज -सरस्वतीकण्ठाभरण 1/68
5. अनिष्ठुरत्वं यत्प्राहु. सौकुमार्यं तदुच्यते ।। 1/80
   -भोज- सरस्वती कण्ठाभरण

गुण का सम्बन्ध अलङ्•कार से

काव्यशास्त्र में गुण और अलङ्•कार का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस विषय पर आचार्यों के विचार अलग-अलग हैं।

आचार्य वाग्भट ने काव्य में गुण को श्रेष्ठ मानते हुए यह लक्षण स्वीकार किया है, कि गुण के अभाव में दोषरहित शब्द और अर्थ भी सुन्दर नही लगते[1]। आचार्य दण्डी, वामन की भाँति उन्होंने गुण को काव्य में शोभाधायक तथा भावात्मक रूप माना है। यद्यपि आचार्य वाग्भट ने गुण और अलङ•कार का भेद तो स्पष्ट नहीं किया, लेकिन काव्य में दस गुणों को स्वीकार करते हुए[2] अलङ् कार की अपेक्षा गुण को श्रेष्ठ माना है। आचार्य भोज ने भी गुण और अलङ्•कार दोनों के योग में 'गुण का' स्थान प्रमुख माना है। भोज ने अलङ्•कार से युक्त रहने पर भी गुणहीन काव्य को श्रेष्ठ नही माना[3]। दण्डी की भाँति आचार्य वाग्भट ने भी "औदार्यगुण" को "उदात्त अलङ्•कार" "अर्थव्यक्ति" गुण को "स्वभावोक्ति" अलङ्•कार तथा "समाधि" गुण को "अतिशयोक्ति" अलङ्•कार के

1• अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।

तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान्॥ 3/1

वाग्भट

2• औदार्य समता कान्तिरर्थव्यक्ति. प्रसन्नता।

समाधि. श्लेष ओजोऽथ माधुर्य सुकुमारता॥ 2/1

वाग्भट

3• अलङ्•कृतमपि श्रव्यं न काव्य गुणवर्जितम्।

गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्•कारयोगयो:॥ 1/59

भोज -सरस्वती कण्ठाभरण

समीप नाना है अर्थात् इन गुणों का लक्षण इन अलङ्कारों की भाँति है ।

"औदार्य" गुण "उदात्त" अलङ्कार से बहुत भिन्न नहीं है । उदात्त अलङ्कार में आशय का उत्कर्ष एव वस्तूत्कर्ष का होना आवश्यक है[1] । इस गुण का श्लाघ्य विशेषण होना विभूति का व्यंजक है । अर्थ की चारुता के प्रत्यायक पद के साथ अन्य पदों की सम्मिलित योजना को उदारता नामक गुण कहते हैं[2] । इसका उदाहरण आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार से किया है--

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।

क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरंचकार ।। 3/4

वाग्भट

अत. लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् में ऐश्वर्य सूचक होने के कारण इसमें "उदात्त अलङ्कार की प्रतीति होती है ।

इस श्लोक में चारुता प्रत्यायक "गन्ध" शब्द के साथ अन्य सुन्दर पद "इभ" "लीलाम्बुज" शब्द के साथ "छत्र" और "क्रीडा" शब्द के साथ "गिरौ"

---

1. आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्वमनुत्तमम् ।

उदात्त नाम त प्राहुरलङ्कार मनीषिण. ।। 2/300

दण्डी -काव्यादर्श

2 पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।

मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ।। 3/3

- वाग्भट

शब्द अर्थ में चारुता का आधान करते हैं अत. इसमें औदार्य नामक गुण है ।

"अर्थव्यक्ति" गुण को वाग्भट ने दण्डी की भाँति स्वीकार करते हुए, इसका लक्षण इस प्रकार से किया है-- जिस वाक्य विन्यास में अर्थ को समझने में किसी प्रकार का कठिन नहीं उपस्थित होता, उसे आचार्य वाग्भट ने "अर्थव्यक्ति" नामक गुण माना है[1]। आचार्य दण्डी के अनुसार अर्थ में "नेयत्व" का जहाँ अभाव रहे वहाँ अर्थव्यक्ति गुण होता है[2]। जितना अर्थ अपेक्षित हो उतने अर्थ का बोध कराने के लिए पर्याप्त पदों का प्रयोग अर्थव्यक्ति गुण है । अर्थ की व्यक्ति एव पर्याप्त पद का प्रयोग दोनों पर बल होने के कारण यह "शब्दार्थयुगलगत" गुण है । दण्डी का शब्दगत "अर्थव्यक्ति" गुण "प्रसाद" गुण से बहुत भिन्न नहीं है और अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण "स्वभावोक्ति " अलङ्कार से मिलते जुलते स्वभाव का है । वाग्भट के'अर्थव्यक्ति गुण'के उदाहरण से'स्वभावोक्ति अलङ्कार'प्रतीति इस प्रकार से हो रही है--

"त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा" 3/8

वाग्भट

सूर्यास्त होने से रात्रि का आगमन स्वभाविक है ।

समाधि गुण-- आचार्य वाग्भट ने दण्डी की समाधि गुण धारण को स्वीकार किया है--

---

1• यदनेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।
वाग्भट- 3/8

2• अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य- - - - - । 1/63
दण्डी-काव्यादर्श

"जहाँ एक वस्तु के गुण का आधान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है, वहाँ समाधि नामक गुण होता है[1]। आचार्य दण्डी के अनुसार "जिस काव्य में लोकव्यवहार की सीमा का अनुपालन करते हुए किसी वस्तु के गुण क्रिया आदि धर्म का उससे भिन्न (गौण) वस्तु में आरोपित किया जाता है, वह काव्य समाधि गुण युक्त होता है[2]। दण्डी के प्रस्तुत गुण में अतिशयोक्ति अलङ्कार की प्रतीति होती है। आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत का निगरण करने वाले अप्रस्तुत के वर्णन में अतिशयोक्ति अलङ्कार माना है[3]। आचार्य वाग्भट के समाधि गुण का उदाहरण इस प्रकार है--

यथाऽभिररिस्त्रीणा राज्ञ. पल्लवित यश. । 3/11-वाग्भट

पल्लवित होना लतावृक्षादि का गुण है, न कि यश का किन्तु कवि ने पल्लवित होने की विशेषता को राजा के यश में नियोजित करके समाधि गुण स्वीकार किया अत इस गुण में अतिशयोक्ति अलङ्कार की प्रतीति होती है।

---

1. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते । 3/11
   - वाग्भट

2. अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
   सम्यगाधीयते यत्र स समाधि: स्मृतो यथा ।।
   दण्डी-काव्यादर्श 1/93

3. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
   विज्ञेयातिशयोक्ति. सा ।। 10/100
   मम्मट-काव्यप्रकाश

वामन के पूर्व किसी आचार्य ने गुण एव अलङ् कार के पार्थक्य प्रतिपादन का प्रयास नहीं किया । आचार्य भरत ने गुण की परिभाषा नहीं दी और न ही अलङ्•कार से उसका भेद स्पष्ट किया । उन्होंने प्रकारान्तर से गुण तथा अलङ् कार के समानाश्रयत्व का समर्थन किया है । "समता" गुण की परिभाषा में भरत ने गुण और अलङ्•कार के परस्पर विभूषण होने पर बल दिया है[1] ।

आचार्य दण्डी के विचार इनसे भिन्न है । दण्डी ने काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी तत्वों को सामान्यत. अलङ्•कार माना है[2] । दण्डी के अनुसार गुण, अलङ्•कार, वृत्ति आदि काव्य के सभी तत्व अलङ्•कार हैं । गुण को अलङ्•कार समझने पर दोनों को अभिन्न नही मानते । दण्डी काव्य-गुण को काव्य सौन्दर्य का हेतु होने के कारण अलङ्•कार तो मानते हैं, किन्तु उपमा आदि अलङ्•कारों को वे गुण नहीं मानते। अत स्पष्ट है कि दण्डी ने गुण की अलङ्•कार से पृथक् सत्ता स्वीकार किया है । दण्डी ने अलङ्•कार के व्यापक अर्थ में गुण को भी अलङ् कार माना है । किन्तु वे गुण को मार्ग विभाजक असाधारण धर्म और अलङ्•कार को साधारण धर्म स्वीकार करते हैं ।

1• अन्योन्यसदृशा यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणा ।

अलङ्•कारा गुणश्चैव समा. स्यु समता गता ।।

भरत-नाट्यशास्त्र 16/101

2• काव्यशोभाकरान् धर्मान्लङ् कारान् प्रचक्षते ।

दण्डी-काव्यादर्श 2/1

अलङ कार और गुण के भेद का निरूपण सर्वप्रथम वामन ने किया है । आचार्य वामन ने अलङ्•कार के व्यापक अर्थ में काव्य सौन्दर्य के सभी उपादान को अलङ्•कार माना है । इस दृष्टि से गुण भी अलङ्•कार है और अलङ्•कार की सत्ता से ही काव्य ग्राह्य होता है[1] । आचार्य वामन ने गुण और अलङ्•कार का भेद निरूपण इस प्रकार से किया है, "काव्य की शोभा के हेतुभूत धर्म गुण है"[2] । अलङ्•कार काव्य शोभा के वृद्धि करने वाले धर्म हैं[3] । गुण से काव्य में सौन्दर्य आता है। अत. काव्य सौन्दर्य के लिए गुण अनिवार्य है, तथा गुण काव्य के "नित्य" धर्म हैं[4] । अलङ्•कार काव्य के "अनित्य" धर्म क्योंकि अलङ्•कार काव्य

1• काव्य ग्राह्यम् अलङ•कारात् । 1/1/1

वामन-काव्यालङ•कार सूत्र वृत्ति

2• काव्यशोभाया. कर्त्तारो धर्मा गुणा ।

वामन -काव्यालङ्•कारसूत्र वृत्ति-3/1/1

3• तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा: । 3/1/2

वामन-काव्यालङ् कार सूत्र वृत्ति

4• पूर्वे नित्या' ।
पूर्वे गुणा नित्या । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते ।

वामन-काव्यालङ्•कार सूत्र वृत्ति-- 3/1/3

में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते वे काव्य में शोभा के रहने पर उसकी वृद्धि मात्र करते हैं । वामन ने अपने विचार को लौकिक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया है कि, जैसे "युवती" के भीतर सौन्दर्यादि गुणों के होने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा वृद्धि करते हैं, वास्तविक शरीर सौन्दर्य के न होने पर धारण किये हुए सुन्दर अलङ्कार भी व्यर्थ हो जाते हैं । वे उसके सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार काव्य में ओज, प्रसादादि गुण के होने पर यमक और उपमा आदि अलङ्कार उसके शोभावर्धक होते हैं[1] ।

अत. वामन के अनुसार गुण और अलङ्कार में साम्य इस दृष्टि से है, कि दोनों ही शब्दार्थ के धर्म हैं तथा दोनों ही काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं । दोनों में वैषम्य यह है कि ﴾क﴿ काव्य में शोभा गुण के कारण होती है, जबकि अलङ्कार से शोभा वृद्धि होती है । ﴾ख﴿ गुण शब्द एवं अर्थ के नित्य धर्म है जबकि अलङ्कार अनित्य । अत. वामन ने अलङ्कार की अपेक्षा गुण को काव्य में अधिक महत्वपूर्ण माना है ।

1\. युवतेरिव रूपमङ्ग काव्य·
स्वदते शुद्धगुण तदप्यतीव ।
निहितप्रणय निरन्तराभि.।।
सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभि:,
यदिभवति ववश्च्युत गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनाया. ।
अपिजनदयितानि दुर्भगत्व,
नियतमलङ्काराणि सश्रयन्ते ।।
वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति पृ0 ।।7

आचार्य मम्मट ने भी काव्य में गुण को "नित्य" एव अलड्•कार को अनित्य" माना है। ध्वनिवादी आचार्यों में मम्मट, आनन्दवर्धन आदि ने गुण को शोभा जनक नहीं अपितु उत्कर्ष हेतु तथा रसाश्रित स्वीकार किया है, जबकि रीतिवादी आचार्य वामन आदि ने गुण को शब्दार्थगत माना है।

ध्वनि प्रस्थान आचार्यों के अनुयायी होने के कारण आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त मम्मट आदि की गुणालड्•कारधारणा की स्थापना किया है। अलड्•कार की अपेक्षा गुण को अधिक महत्वपूर्ण माना है। काव्य की परिभाषा में मम्मट के काव्य लक्षण को ही स्वीकार करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने यह स्पष्ट किया है कि कहीं अलड्•काररहित शब्दार्थ भी गुण होते हैं, किन्तु काव्यत्व के लिए शब्दार्थ का दोषमुक्त एव गुण युक्त होना आवश्यक है[1]। अत. इसे स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में गुण की स्थिति को अनिवार्य माना है। क्योंकि गुण के रहने पर अलड्•कार के अभाव में काव्य सुन्दर होता है, किन्तु अलड्•कार के सद्भाव और गुण के न रहने पर काव्य सुन्दर नहीं होता[2]। गुण और अलड्•कार के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने अपनी धारणा को इस

1• अदोषौ सगुणौ सालड्•कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

वृत्ति-चकारो निरलड्•कारयोरपि शब्दार्थयो.

क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थ ।।

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन-। पृ0 19

2• अनेन काव्ये गुणानामवश्यभावमाह तथा हि अनलंकृतमपि गुणबहुलं (बहव. 9)

स्वदते। यथोदाहरिष्यमाणं शून्य वासगृहम् -" इत्यादि अलड्•कृतमपि निर्गुण न

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन। पृ0 19

गुप्त ने स्पष्ट किया है, "अलङ्कार के त्याग और ग्रहण पर वाक्य का अपकर्ष और उत्कर्ष निर्भर नहीं है[1]। गुण की स्थिति को अनिवार्य माना है, किन्तु गुण के त्याग और ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता[2]। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार गुण काव्य का आवश्यक लक्षण है। अतः इसके अभाव में काव्यत्व असम्भव है। काव्य में गुण की अनिवार्यस्थिति है और अलङ्कार उसका अनित्य धर्म है।

आनन्दवर्धन की तरह आचार्य हेमचन्द्र ने भी गुण को रस के उत्कर्ष का कारण माना है। उन्हें शब्दार्थगत स्वीकार करना भी लाक्षणिक प्रयोग मात्र है[3]। आनन्दवर्धन ने काव्य दोष को रसधर्मत्व स्वीकार किया[4]। हेमचन्द्र की धारणा है कि गुण रस के ही धर्म हैं। जहाँ दोष रहते हैं वहीं गुण भी। दोष रस के धर्म हैं। अत. गुण भी रस के ही धर्म हैं। दोष को शब्दगत या अर्थगत नहीं माना जा सकता।

---

1. न वालकृतोनामपोद्धाराहाराभ्यां वाक्य दुष्यति पुष्यति वा। वही- पृ0 20

2. गुणानामपोद्धाराहारौ तु न सम्भवत इति।

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन- पृ0 20

3. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतु गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयो.। पृ0 19

हेमचन्द्र-काव्यानुशासन

4. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिता:

ध्वन्यात्मन्येव श्रृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृता:॥ पृ0 126

आनन्दवर्धन- ध्वन्यालोक

अतः इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि ध्वनि प्रस्थान के सभी आचार्यों ने काव्य में गुण को महत्वपूर्ण माना है ।

गुण और रस का सम्बन्ध---

भारतीय काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही रस पर किसी न किसी रूप में विचार होता रहा है । रस का गुण तथा अलङ्कार से सम्बन्ध भी किसी न किसी रूप में निरूपित होता रहा है।

विभिन्न आचार्यों के विचार इस विषय पर अलग-अलग है । कुछ आचार्यों ने शब्दार्थ के माध्यम से रस पर आश्रित माना है । कुछ आचार्यों ने गुण को शब्दार्थ का धर्म मानकर रस को ही गुण विशेष का अङ्ग बना दिया तथा अन्य आचार्यों ने गुण को रस का धर्म मानकर उसे रस पर अनिवार्यत आश्रित माना है ।

आचार्य वाग्भट ने दस गुण को शब्दार्थ का धर्म माना है[1] । काव्य में रस को विशेष महत्व नहीं दिया । गुण के अभाव में दोष रहित शब्द और अर्थ भी सुन्दर नहीं लगते, ऐसी आचार्य वाग्भट की मान्यता है[2] । गुण की सत्ता

---

1. औदार्य समता कान्तिरर्थव्यक्ति प्रसन्नता ।

   समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्य सुकुमारता ।। 3/2 वाग्भट

2. अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।

   तानिदानी यथाशक्ति ब्रूयोऽभिव्यक्तये गुणान ।। 3/1-वाग्भट

काव्य में स्वतन्त्र एव मुख्य है । वह रस सापेक्ष नहीं । काव्य में गुण मुख्य तथा रस गौण है । आचार्य वाग्भट दण्डी के माधुर्य गुण की परिभाषा से पूर्णत. सहमत हैं । उन्होंने माधुर्य गुण के समान रसयुक्त पद को मधुर स्वीकार किया है[1] । आचार्य ने भरत ने गुण को शब्दार्थ के धर्म माने हैं तथा (गुण को) प्रकारान्तर से रस पर आश्रित स्वीकार किया है । भरत ने नाट्य प्रयोग का मूल तत्त्व रस को माना है । रस के अभाव में उसकी सत्ता नहीं स्वीकार किया[2] । वाचिक अभिनय की सार्थकता रस के उपकार में ही है । अत गुण को रसाश्रित एवं वाचिक अभिनय पर आश्रित माना है । भरत ने रस को ही गुण का मूल आश्रय स्वीकार किया । भरत ने विशेषगुण के लक्षण में श्रृङ्गार आदि रस को उसका अङ्ग माना है । उदारता गुण को श्रृङ्गार एव अद्भुत रस से युक्त स्वीकार किया[3] । भरत ने गुण के आश्रय के विषय में अपनी मान्यता को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया ।

आचार्य दण्डी ने गुण के रस धर्म को स्वीकार करते हुए, शब्द और अर्थ का धर्म माना है । दण्डी ने काव्य में रस का विशेष महत्त्व नहीं दिया , रसवदादिलङ्कार में ही रस की सत्ता स्वीकार किया । दण्डी ने अग्राम्यता

---

1. सरसार्थपदत्व यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् 3/10

-वाग्भट

2. नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते । पृ0 92

भरत -नाट्यशास्त्र

3. दिव्यभावपरीतं यच्छृङ्गाराद्भुतयोजितम ।
अनेकभावसयुक्तमुदारत्व प्रकीर्तितम् ।। 16/110

भरत नाट्यशास्त्र

माधुर्य को सर्वाधिक रसोपकारक माना है, लेकिन रस शब्द का प्रयोग सामान्यत काव्य सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है । रस के पारिभाषिक अर्थ में नहीं[1] । दण्डी ने रस की अपेक्षा गुण को काव्य का अधिक महत्वपूर्ण तत्व माना है। दण्डी ने गुण को मार्ग विभाजक अलङ्कार तथा काव्य के शोभाकारक धर्म के रूप में स्वीकार किया है । रसवत्‌वाणी को मधुर मानकर दण्डी ने रस को माधुर्य गुण का अङ्ग स्वीकार किया । अत. रस को अपेक्षा गुण स्वतत्र काव्य शोभा का हेतु-भूत काव्य तत्व है ।

आचार्य दण्डी की तरह वामन ने गुण को शब्दार्थ का धर्म माना है । गुणों को शब्दगत एव अर्थगत स्वीकार करते हुए उसकी सख्या बीस मानी है । गुण रस का सापेक्ष नहीं । "कान्ति गुण" की परिभाषा में वामन ने रस को कान्ति गुण का अङ्ग माना है । वामन के अनुसार दीप्त रस का होना ही कान्ति नामक गुण है[2] । इस प्रकार गुण को मुख्य और रस को गौण स्वीकार किया है ।

1• कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चतु ।
तथाप्यग्राम्यतैवेन भारं वहति भूयसा ।। 1/62
दण्डी -काव्यादर्श

2• दीप्त रसत्व कान्ति' । 3/2/15
वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम गुण को रस के धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। आनन्दवर्धन के पूर्व माघ ने गुण को रस, भाव आदि पर आश्रित माना है।[1] मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने आनन्दवर्धन के गुण विषयक मान्यता को ही स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन की धारणा यह है कि, गुण काव्य के अङ्गी रसादि रूप अर्थ का अवलम्बन लेकर रहता है। इसे उपचार से ही शब्दार्थ का अर्थ माना है। वस्तुत. शृंगार आदि रस ही मधुर होते हैं। अत: शृंगार आदि से युक्त काव्य में माधुर्य आदि गुण रहा करते हैं। रस धर्म होने के कारण गुण रस से ही नियमित होते हैं। वक्ता, वाच्य विषय आदि का औचित्य भी उसका नियामक है। विशेष रस में ही विशेष गुण होते हैं। शृंगार आदि रस में माधुर्य गुण तथा रौद्र आदि रस में ओज गुण और प्रसाद गुण को सभी-रसों में स्वीकार किया है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण क्रमश. चित्त की द्रुति, दीप्ति एव विकास की अवस्थाएँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से गुण और रस के सम्बन्ध में दो प्रकार की मुख्य धारणाएँ स्पष्ट होती हैं। अलङ्कार एव रीति प्रस्थानों में गुण को शब्दार्थ का नित्य धर्म एव रस को गुण का अङ्ग स्वीकार किया है। इसके विपरीत ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य का अङ्गी माना है, तथा गुण को रस-धर्म स्वीकार किया है।

---

1. नैकनोज. प्रसादो वा रसभाव विद. कवे.।

माघ-शिशुपालवध - 2/83

दोष अपकर्ष का हेतु होता है । यह काव्य के किसी अंश में यथा व्याकरण शब्दों की अवस्थिति, शब्द चयन, भावाभिव्यक्ति, छंद, अर्थ, कल्पना आदि में हो सकता है । इस प्रकार शब्द दोष, अर्थ दोष और रस दोष ये मुख्य दोष हैं । शब्द दोषों में बहुत से व्याकरण विषयक होते हैं,अर्थ दोषों में बहुत से तर्कसिद्धता से सम्बन्धित और रसदोषों में बहुत से मानव प्रकृति और वस्तु जगत् से सम्बन्धित होते हैं । काव्य में जितने ही कम दोष होंगे प्रबन्ध की उत्कृष्टता उतनी ही अधिक होगी । भोज के मत में दोष हान प्रथम तत्व है, जिसके कारण कोई उक्ति साहित्य या काव्य रूप में स्वीकार करने योग्य होती है । समस्त दोषों के निराकरण के विषय में पूर्णतया आश्वस्त होने के बाद ही कोई कवि अपनी उक्ति को विशिष्ट अलङ्कार और भाव से युक्त होने की बात सोच सकता है । सुन्दर आकृति भी श्वित्र से दूषित हो सकती है । उपर्युक्त विचार के साथ भोज ने दण्डी का श्लोक उद्धृत किया है और उसके साथ ही भामह का एक श्लोक भी जोड़ दिया है । जिसका अर्थ है कि,"काव्य रचना न करना कोई अधर्म जनक, अहित कारक अथवा दण्डनीय नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है । आचार्य भोज ने "सरस्वतीकण्ठाभरण" के द्वितीय श्लोक में काव्य की परिभाषा स्वीकार करते हुए कहा है, "काव्य की पहली शर्त है उसका दोष रहित होना ।"

तत्र अभिधाविवक्षादिभि: निरूपिते शब्दार्थयो: साहित्ये वाक्यस्य प्रयोग-योग्यता प्रयोगानर्हता च निश्चीयते । यदाह एक: शब्द: सम्यक् प्रयुक्त: स्वर्गे लोके

कान्धुक् भवति । दुष्प्रयुक्त. पुनरवमर्याय सम्पद्यते सम्यक् प्रयोगश्चास्य तदोपपद्यते यदा दोहानं, गुणोपादानम् अलङ्कारयोग: रसावियोगश्च भवति तेषां च प्रथमं दोषहानमेव विधेयम्, यत: कमनीयरूपादिसम्युदुपेतमपि वपु. कुष्ठविन्दुनैकेनापि दौर्भाग्यमनुभवति उक्त च--

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।

स्याद्वपु. सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।"

(1| -7) (दण्डी काव्यादर्श)

किंच-- "नाकवित्वमधर्माय मृतये दण्डनाय वा, कुकवित्व पुन: साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिण:।

भामह (श्रृंगार प्रकाश पृ0 144-45 जिल्द 2)

आचार्य वाग्भट के अनुसार, दोषहीन काव्य (लोक में) यश को देने वाला और परलोक में स्वर्ग पद को प्राप्त कराने वाला होता है । दुष्ट काव्य से तो केवल अपयश (निन्दा) की प्राप्ति होती है ।[1] आचार्य रूद्रट निरलङ्कृत काव्य को भी मध्यम काव्य के रूप में उसी स्थिति में स्वीकार करते हैं जब वह दोष रहित हो ।[2]

आचार्य वामन ने यह स्वीकार किया है, कि काव्य में केवल गुण और अलंकार के समावेश से ही सौन्दर्य की प्राप्ति नहीं होती, अपितु मुख्य रूप से "दोषहान" से

1• अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।
परिहार्यान्ततो दोषास्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।। 2/5 वाग्भट

2• यत्पुनरनलङ्कार निर्दोष चेति तन्मध्यमम् ।
रूद्रट-काव्यालङ्कार 6/40

भी होती है । "स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्" ‡1-1-3, काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति‡ अत इस प्रकार से वामन ही प्रमुख आचार्य ‡वामनाचार्य‡ है, जिनकी परिभाषा को मम्मट ने भी स्वीकार किया है । भामह, दण्डी, और वामन के अनुवर्त्ती तथा मम्मट के पूर्ववर्ती भोज ने "सरस्वतीकण्ठाभरण" के प्रथम परिच्छेद के द्वितीय श्लोक में काव्य की इस परिभाषा को स्वीकार किया है--

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसान्वितं कवि. कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।"

1/2 - सरस्वतीकण्ठाभरण-भोज

रत्नेश्वर ने अपनी भूमिका में यह स्वीकार किया है, कि उक्त श्लोक द्वारा भोज ने काव्य का लक्षण स्पष्ट किया है । "एतेन काव्यलक्षणमपि कटाक्षितम् ।" ‡पृ0 3 श्र0 प्र0‡ साहित्य की विशद व्याख्या करते हुए भोज ने "दोषहान" को प्रथम स्थान दिया है । कवि को यथा सम्भव दोषों से बचना चाहिए । दोषहान स्वयं ही एक गुण है । माघ के शब्दों में, "अपदोषतैव विगुणस्य गुणः ।" ‡9-12 शिशुपालवध‡ एकाध दोष के आ जाने से किसी रचना का काव्यत्व विनष्ट नहीं होता इस विषय में महाकवि कालिदास की उक्ति चरितार्थ होती है--

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।।"

‡कु0 सं0 1-3‡

कवि ने यह भी स्वीकार किया है कि चन्द्रमा का लाछन उसके सौन्दर्य में वृद्धि ही करता है ।

"मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।"

‡अभिज्ञान शाकुन्तला 1-20‡

यद्यपि यह बात सत्य है, फिर भी आदर्श रूप यह स्वीकार किया गया है, कि विद्वान वह है जिसे दोषों का ज्ञान हो और जो उनसे बच सके । संस्कृत शब्द-कोश का भी यही कथन है, कि विद्वान दोषज्ञ होता है, "विद्वान विपश्चिद् दोषज्ञ."।
§अमरकोश§

अत. कवि को सम्पूर्ण शक्ति के साथ निर्दोष रचना के लिए यत्नशील होना चाहिए । काव्य की समस्त प्राचीन परिभाषाओं में "शब्दार्थौ काव्यम्" इस परिभाषा के साथ "अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ" ये विशेषण जुड़े रहते हैं । आचार्य मम्मट ने "काव्यप्रकाश" में इसी परिभाषा को स्वीकार किया है, किन्तु पश्चाद्वर्ती काव्य-शास्त्रीय समीक्षकों में "विश्वनाथ और जगन्नाथ" जैसे आचार्यों ने इस परिभाषा की आलोचना की है । साहित्य दर्पणकार के अनुसार परिभाषा में "अदोषत्व" शब्द के सम्मिलित करने से "अव्याप्ति" दोष आ जायेगा । काव्यतन्त्र की दृष्टि से यह परि-भाषा अनुपयुक्त है । क्योंकि "अदोषत्व" को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकार करने पर "न्यकारो ह्ययमेव" आदि जैसे अनेकों व्यंग्य काव्य की सीमा से बहिष्कृत हो जायेंगे, क्योंकि "न्यकारो हि" आदि श्लोक में अविमृष्टविधेयांश या विधेयाविमर्श दोष है । यह केवल सैद्धान्तिक आपत्ति है । अत. विश्वनाथ के अनुसार, काव्य की परिभाषा में "अदोष" विशेषण को स्वीकृत कर किसी रचना को कुछ दोषों के कारण काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते । आचार्य भरत का दृष्टिकोण दोष के प्रति उदार और क्षमापूर्ण है, भरत के अनुसार "संसार का कोई भी पदार्थ गुणहीन अथवा दोषहीन नहीं हैं । "न च किंचिद् गुणहीनं दोषैःपरिवर्जितम् न वा किंचित् ।"। तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः ।।" §17-47 नाट्य शास्त्र काशी संस्करण§ विश्वनाथ के अनुसार, "एवं काव्य प्रविरलविषय निर्विषयं वा स्यात् । सवर्था निर्दोषस्य एकान्तमसम्भवात् ।" और फिर सभी दोष समान महत्व के नहीं होते छोटे दोषों की

की उपेक्षा स्वीकार की जा सकती है, किन्तु गम्भीर रस दोषों की नहीं रूद्रट (6-1)
के टीकाकार नमिसाधु ने रूद्रट द्वारा (2-8) में वर्णित दोषों को, छठे अध्याय में
वर्णित दोषों की अपेक्षा अधिक गंभीर स्वीकार करते हुए काव्यदोषों को न्यूनाधिक
कहा है, "न्यूनाधिकादि दोषो हि नेत्रोत्पाट तुल्य: असमर्थादिकस्तु पटलनिभ:" ।

अत: कवि का परीक्षण उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना के आधार पर किया जाना
चाहिए फिर भी दोष आखिर दोष ही है, और इसलिए यह स्वीकार किया जाता
है, कि अमुक काव्य दुष्ट है । यदि रचना में "दोषहान" के प्रति विश्वनाथ भी दण्डी,
भामह, वामन और भोज के समान चिन्तित न होते तो वे 'साहित्यदर्पण' के एक पूरे
अध्याय में "दोषहान" विवेचन को स्थान नहीं देते। अत. विश्वनाथ को 'काव्य' और
'सुकाव्य' अथवा 'उपादेय काव्य' के बीच एक सूक्ष्म विभाजन को स्वीकार करना पड़ा--
"न हि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशा: । किन्तु उपादेयतारतम्यमेव
कर्तुम तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च

"कीटानुविद्ध रत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम. स्फुट: ।" (साहित्य दर्पण)

अत. सभी दृष्टियों से दोषहान का महत्व है और दोष का वर्जन किया जाना चाहिए

दोषो की संख्या

काव्य शास्त्र के आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से दोषों की संख्याओं का निर्धारण स्वीकार किया है, आचार्य वाग्भट ने इसे तीन भागों में विभाजित किया है, पद दोष, वाक्य दोष, वाक्यार्थ दोष। वाग्भट के अनुसार, "अनर्थक, श्रुतिकटु, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेत प्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य ये आठ दोष जिस पद में हो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए, लेकिन कहीं पर इन दोषों के होते हुए भी दोष नहीं स्वीकार किया गया है।[1] आचार्य भरत और दण्डी ने दस दोष स्वीकार किये हैं तथा भामह ने पच्चीस दोष, सामान्य दोष, वाणी के दोष, विस्तार दोष, अन्य दोष, इन वर्गों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। वामन ने पद-गत, पदार्थगत, वाक्यगत, वाक्यार्थगत इस प्रकार से बीस दोष स्वीकार किया है। रूद्रट ने छब्बीस §26§ दोष तथा मम्मट ने तिहत्तर §73§ दोष और भोज ने भी पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ दोष स्वीकार किये है। इन दोषों के लक्षण और परिभाषाओं को आचार्यों ने भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है।

अनर्थक दोष -

जो पद प्रस्तुत विषय के अनुकूल न हो उसे "अनर्थक" दोष स्वीकार किया है।[2] यथा--

---

1• अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम्।
स्वसङ्केत प्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसम्मतम्॥ 2/6
ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते।
क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोक्ता॥ 2/7 वाग्भट §युग्मम्§

2• प्रस्तुतेऽनुपयुक्त यत्तदनर्थकमुच्यते।
यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हितु॥ 2/8 वाग्भट

• "यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ।" 2/8 वाग्भट

यहाँ पर "विनायक" गणेश जी के प्रसङ्ग में "लम्बोदर" विशेषण अनुपयुक्त होने के कारण काव्य में "अनर्थक" नामक दोष उत्पन्न करता है । आचार्य भामह, दण्डी और रूद्रट ने इस दोष को नहीं स्वीकार किया तथा आचार्य वामन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार से किया है, "पूरणार्थमनर्थकम्" [2/1/9] का० सू० वृ० आचार्य भोज ने 'पद दोष' के अन्तर्गत "अनर्थक" दोष को स्वीकार करते हुए उसका लक्षण भी किया है, "छन्द की पादपूर्ति के लिए ही किसी पद का प्रयोग करने पर "अनर्थक" पद दोष माना है ।[1] आचार्य मम्मट इसे "निरर्थक" दोष के रूप में स्वीकार करते है ।[2]

श्रुतिकटु दोष"

काव्य में अत्यन्त कर्णकटु अक्षरों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाला दोष "श्रुतिकटु" है ।[3] यथा--

"एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्टेयं निर्मिता यथा ।" 2/9 वाग्भट

यहाँ पर "स्रष्टेय" शब्द में टकार और रकार का प्रयोग दूषित है क्योंकि ये दोनों कर्कश वर्ण है । आचार्य वामन इस दोष को "श्रुतिकटु" के नाम से ही स्वीकार करते है ।[4] भामह इसे "श्रुतिदुष्ट" मानते और विभिन्न कारणों से श्रुतिदोष उत्पन्न करने

1• पादपूरणमात्रार्थमनर्थकमुदाहृतम् । 1/8 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

2• निरर्थकं पादपूरणमात्र प्रयोजन चादिपदम् ।

यथा- उत्फल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते । मम हि गौरी अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति । युष्मत्प्रसादेन । अत्र हि शब्दः । 7/147 मम्मट-काव्यप्रकाश

3• निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम् ।
एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्टेयं निर्मिता यथा ।। 2/9 वाग्भट

4• "श्रुतिविरसं कष्टम्" । 2/1/6 वामन काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति

वाले कई पदों का संग्रह भी करते हैं ।[1] आचार्य मम्मट के अनुसार "कठोर वर्णरूप दुष्ट रसापकर्षक पद श्रुतिकटु"।[2] आचार्य मम्मट ने श्रुतिकटुत्व को "अनित्य" दोष के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि श्रुतिकटुत्व केवल श्रृंगार आदि कोमल रसों के अपकर्षक होने से दोष माने जाते हैं । रौद्र, वीर आदि कठोर रसों में उनसे ॣश्रुतिकटुत्व दोष सेॣ रस का अपकर्ष नहीं होता, इसलिए "श्रुतिकटुत्व" को दोष नहीं स्वीकार किया जाता और ये "अनित्य" दोष के अन्तर्गत माने जाते हैं । आचार्य वाग्भट ने इस "नित्य" और "अनित्य" की विवेचना नहीं की है ।

व्याहतार्थ दोष-

ऐसे पद का प्रयोग जिससे इष्टार्थ के अतिरिक्त, अन्य अर्थ का प्रतिपादन होता हो और वह ॣअन्य अर्थॣ इष्टार्थ में बाधा डालता हो, उसे "व्यहतार्थ" नामक दोष स्वीकार किया है ।[3]

यथा--

रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ यथा । वाग्भट 2/10

यहाँ पर "भूतलोपकृतौ" शब्द का प्रयोग दूषित है । एक प्रकार से संधि करने पर इसका रूप बनता है--"भूतल + उपकृतौ" जिसका अर्थ है "संसार के उपकार में" और

---

1. विड बर्चोविष्ठितक्लिन्नछिन्नवान्तप्रवृत्तय: । प्रचार धर्षितोग्दारविसर्गहृदयन्त्रिका हिरण्यरेता: सम्बाध. पेलवोपस्थाण्डजा. । वाक्काटवादयश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिर: ।। भामह-काव्यालङ्कार 1/48-49

2. श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्ट । ।4। मम्मट काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास

3. व्याहतार्थ यदिष्टार्थबाधकार्थान्तराश्रयम् ।
रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ यथा ।। 2/10 वाग्भट

और वास्तव में यही इष्टार्थ है। इस शब्द का एक और रूप इस प्रकार है, "भूत-लोपकृतौ" जिसका अभिप्राय है "प्राणियों के विनाश में" पूर्वोक्त इष्टार्थ के साथ साथ इस अनिष्टार्थ का प्रतिपादन होने के कारण यहाँ पर "व्याहतार्थ" दोष उत्पन्न हो गया है।

आचार्य भोज ने इसे "अन्यार्थ" दोष के रूप में स्वीकार किया है। भोज के अनुसार, "जब कोई पद सर्वमान्य या संकेतित अर्थ को नहीं ज्ञात कराता और अपने रूढ़िगत अर्थ से अलग हो जाता है, तो वह अन्यार्थ दोष है।[1] आचार्य भामह और दण्डी इस दोष को नहीं स्वीकार करते हैं। मम्मट रूद्रट, जयदेव और विश्वनाथ तथा परवर्ती आचार्यों ने इसे असमर्थत्व दोष के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार से किया है—

"असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः।

यथा- तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः।

सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्॥

मम्मट-काव्यप्रकाश - 7/144

यहाँ "हन्ति" यह गमनार्थ में "असमर्थ" है।

अलक्षण दोष—

जो पद व्याकरणविरुद्ध हो उसे "अलक्षण" दोष स्वीकार किया है।[2] यथा-
"मानिनीमानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ॥" 2/11 वाग्भट

---

1. रूढ़िच्युतं पदं यत्तु तदन्यार्थमिति श्रुतम्। 1/5 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

2. शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदलक्षणमुच्यते।
मानिनीमानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ॥ 2/11 वाग्भट

यहाँ पर "विजयति" शब्द दूषित है । व्याकरण नियमानुसार "जि" धातु जिसका अर्थ है "जीतना" "परस्मैपदी" है, किन्तु "वि " उपसर्ग पूर्व में रहने पर वह धातु "आत्मनेपदी" हो जाती है । अतएव "जयति" शब्द तो व्याकरण-सम्मत है और इसलिए अदुष्ट भी । जैसे कि- "स जयति सिन्धुरवदनो" आदि पद में, किन्तु "वि" पूर्वक "जि" धातु का लट् लकार में प्रथम पुरुष का रूप होना चाहिए "विजयते" न कि "विजयति" जैसा कि यहाँ पर प्रयुक्त है । इसलिए इस श्लोक में "अलक्षण" नामक दोष माना गया है ।

आचार्य भामह और दण्डी ने इस दोष को "शब्दहीनत्व" के नाम से अभिहित किया है । भोज ने भी इसे 'शब्दहीनत्व वाक्य दोष' के रूप में स्वीकार किया है । भोज के अनुसार--"जो वाक्य अपशब्द अर्थात् व्याकरण सम्बन्धि दोष से युक्त होता है, उसे "शब्दहीन" स्वीकार करते हैं ।[1] आचार्य मम्मट इसे "च्युतसंस्कार" दोष के रूप में स्वीकार करते है "जो पद व्याकरण नियम के अनुकूल न हो वह "च्युतसंस्कार दोष है ।[2] मम्मट ने इसे "नित्य" दोष के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि ये हमेशा दोष ही होते है और रस के अपकर्षक माने जाते है"। वाग्भट ने ऐसा नहीं स्वीकार किया ।

स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थ दोष-

"स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थ" नामक दोष वहाँ पर होता है जहाँ किसी प्रसिद्ध एव सर्वविदित अर्थ के विपरीत कवि स्वकल्पित अर्थ में किसी पदविशेष को प्रयुक्त करता है ।

---

1. उच्यते शब्दहीनं तद्वाक्यं यदपशब्दवत् । भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण 1/1

2. च्युतसंकृति व्याकरणलक्षणहीन । 7/2 मम्मट-काव्यप्रकाश

3. स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।
   यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैवनिरहवजै. ।। 2/12 वाग्भट

"यथा विभाति शैलोऽय पुष्पितैर्वनिरध्वजै. ।" वाग्भट 2/12

इस पद में "कपिध्वज" शब्द साधारणतया पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिए रूढ है किन्तु यहाँ कवि ने उसे स्वकल्पित अर्जुन नामक वृक्ष के अर्थ में प्रयुक्त किया है । अतएव यहाँ "स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थ" नामक दोष है ।

वामन, भोज तथा मम्मट ने इसे "नेयार्थ" दोष के रूप में स्वीकार किया है । भोज के अनुसार, "जब किसी शब्द के वाच्य अर्थ की कल्पना स्वीकार की जाती है, तो वहाँ "नेयार्थ" दोष होता है ।[1] मम्मट के अनुसार,"कुछ रूढ़ लक्षणाएँ होती है, जो वाचक शब्द(अभिधान)के समान सामर्थ्य से (अर्थ का बोध करवाती है" और कुछ प्रयोजन वश स्वीकार की जाती है, परन्तु रूढ़ि तथा प्रयोजन इन दोनों के अभाव में स्वेच्छापूर्वक कोई लक्षणा अशक्ति के कारण नहीं करनी चाहिए । अत इस प्रकार से लक्षणा करने पर "नेयार्थत्व" दोष हो जाता है ।[2] इति यन्निषिद्ध लाक्षणिकम् यथा-

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम् ।

करोति ते मुख तन्वि चपेटापातनातिथिम् ।। 7/157 मम्मट-काव्यप्रकाश

अप्रसिद्ध दोष —

अप्रचलित अर्थ में किसी पद को प्रयुक्त करने से "अप्रसिद्ध" नामक दोष होता है ।[3] यथा-- "राजेन्द्र भवत: कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् ।" "हन्" धातु प्राय.

1· स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थमिति कथ्यते । भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण 1/11

2· निरूढा लक्षणा: कश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित: ।। 7/13 मम्मट-काव्यप्रकाश

3· यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा ।
राजेन्द्र भवत: कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् ।। 2/13 वाग्भट

मारने के अर्थ में ही प्रचलित है, जाने के अर्थ में नहीं, तथापि यहाँ पर "हन्ति" जाने के अर्थ में स्वीकार किया गया है अतः "अप्रसिद्ध" नामक दोष हैं ।

आचार्य भोज ने "असमर्थ" दोष के रूप में स्वीकार किया है भोज के अनुसार जिस पद में रूढ़ अर्थ को ग्रहण करने पर भी योग्यता का अभाव होता है, वह पद "असमर्थ" दोष से युक्त होता है ।[1] मम्मट ने इस अवाचकत्व पद दोष के रूप में स्वीकार किया है, यथा--

"अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्या. स्वयमेव देहिन. ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादर ।।

मम्मट काव्यप्रकाश 7/148

यहाँ पर "जन्तु" पद अदाता अर्थ में विवक्षित है पर उसका वाचक नहीं हैं ।

असम्मत दोष -

जो पद किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होते हुए भी सर्वमान्य नहीं होता, वह "असम्मत" नामक दोष होता है ।[2] यथा--

"असम्मतं तमोम्भोज क्षालयन्त्यंशवो रवे: ।" वाग्भट 2/14

इस पद में "अंभोज" पद यद्यपि कीचड़ का बोध कराने में समर्थ है, तथापि "अम्भोज" पद का यह अर्थ सर्वसम्मत नहीं है । इसलिए इस पद्य में "असम्मत" नामक दोष है ।

---

1. असातं पद यत्त दसमर्थमिति स्मृतम् । 1/7 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

2. शक्तमप्यर्थमाख्यातु यन्न सर्वत्र सम्मतम् ।
असम्मतं तमोम्भोजं क्षालयन्त्यंशवो रवे: ।। वाग्भट 2/14

आचार्य भोज ने इसे अप्रतीत नामक दोष की संज्ञा से अभिहित किया है । अप्रतीत उस पद को स्वीकार किया है, "जो केवल शास्त्र में प्रसिद्ध हो लोकसामान्य में नहीं ।"[1] वामन ने इसे अप्रतीत दोष ही माना है, किन्तु रूद्रट इसे "असमर्थ" दोष के रूप में स्वीकार करते हैं ।[2]

ग्राम्य दोष

जहाँ कोई पद प्रसङ्ग विशेष में अनुचित होने पर भी प्रयुक्त हो वहाँ "ग्राम्य" दोष होता है ।[3]

यथा-- "छादयित्वा सुरान्पुष्पै पुरो धान्यं क्षिपाम्यहम्" । 2/15 वाग्भट

देवताओं के ऊपर पुष्प चढ़ाये जाते हैं, न कि उन्हें फूलों से ढँक दिया जाता है, अतः इस कारण से "ग्राम्य" दोष स्वीकार किया गया है ।

आचार्य रूद्रट ने भी "ग्राम्य" दोष को स्वीकार किया है । रूद्रट के अनुसार "जो पद जिस विषय में अनुचित है वह उसी पद में "ग्राम्य" दोष से दुष्ट हो जाता है । और इसके 2 भेद है, (1) वक्तृग्राम्य (2) वस्तुग्राम्य ।[4] आचार्य भोज ने

---

1. अप्रतीतं बुद्धिदृष्टं प्रसिद्ध शास्त्र एव यत् ।। 1/10 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

2. धातु विशेषोऽर्थान्तरमुपसर्ग विशेषयोगतो गतवान् ।
   असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्यास्नौ ।।

   रूद्रट काव्यालङ्कार 4/6

3. यद्यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा ।
   छादयित्वा सुरान्पुष्पै. पुरो धान्यं क्षिपाम्यहम् ।। वाग्भट 2/15

4. यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम् ।
   तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति ।।

   रूद्रट-काव्यालङ्कार (17)

"अश्लील अमङ्गल तथा घृणोत्पादक अर्थ वाले पद को "ग्राम्य" दोष स्वीकार किया है ।[1]

वामन ने अश्लीलत्व दोष का दो प्रकार से विभाजन किया है । प्रथम में असम्यार्थान्तर और असभ्यस्मृति हेतु का समावेश है तथा द्वितीय में व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमङ्गलत्व का वामन के ये दोष पदार्थगत है ।[2] भरत ने इसे "भिन्नार्थ" नामक दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार "ग्राम्य" दोष इस प्रकार से है, "जो शब्द केवल लोक में प्रयुक्त होता है ।[4] यथा--

"राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मन ।।
मम्मट-काव्यप्रकाश - 7/156

यहाँ "कटि" यह शब्द "ग्राम्य" है ।

वाक्य दोष

"पदों से ही वाक्य की रचना होती है, अत. पद में रहने वाले दोष वाक्य के भी दोष हो सकते है । तथापि जो दोष पद में न होकर वाक्य में ही होते हैं,

---

1• अश्लीलामङ्गलघृणावदर्थं ग्राम्यमुच्यते ।। 1/14
आत्राश्लीलमसम्यार्थमसम्यार्थान्तरं च यत् ।
असम्यस्मृतिहेतुश्च त्रिविध परिपठ्यते ।। 1/15 भोज - सरस्वतीकण्ठाभरण

2• असम्यार्थान्तरमसम्यस्मृतिहेतुश्चाश्लील म् । 2/1/15 तथा
तत्त्रैविध्यम् व्रीडाजुगुप्सामङ्गलातङ्कदायिभेदात् वामन-- काव्यालङ्कारसूत्राणि 2/1/1

3• भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ।।
विवक्षितोऽन्य एकार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते
भिन्नार्थं तदपि प्राहु: काव्यं काव्यविचक्षणा: भरत-नाट्य शास्त्र 16/90-91

4• ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् । मम्मट-काव्यप्रकाश 7/12

उन वाक्य दोषों का वर्णन आचार्य वाग्भट ने निम्न प्रकार से स्वीकार किया है ।[1] खण्डित, व्यस्तसम्बन्ध, असम्मित, अपक्रम, छन्दोभ्रष्ट, रीतिभ्रष्ट, यतिभ्रष्ट, दुष्टवाक्यत्व और असत्क्रिया ये नौ वाक्य दोष है ।[2] आचार्य वामन[3] ने तीन तथा भोज[4] ने सोलह वाक्य दोष स्वीकार किया है । आचार्य वाग्भट ने इन वाक्य दोषों का लक्षण तथा उदाहरण निम्न प्रकार से स्वीकार किया है—

खण्डित वाक्य दोष

एक वाक्य के अन्तर्गत अन्य वाक्यांश के आ जाने से प्रथम वाक्य में जहाँ विच्छेद उत्पन्न होता है, वहाँ "खण्डित" नामक दोष स्वीकार किया है ।[5] यथा—

"यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्र. स्तौति वो जिन ।" 2/18 वाग्भट

यहाँ पर "वे जिनस्वामी आप लोगों की रक्षा करें" इस वाक्य के बीच में "जिनकी स्तुति सदैव इन्द्र किया करते है" इस वाक्य के आ जाने से पूर्वोक्त वाक्य में व्यवधान उपस्थित हो जाता है । अत. यह "खण्डित" नामक दोष का उदाहरण है ।

---

1. पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषा सन्ति तत्र हि ।
   अपदस्थास्तु ये वाक्ये दोषास्तान्ब्रूमहेऽधुना ।। वाग्भट- 2/16

2. खण्डित व्यस्तसम्बद्धमसम्मितमपक्रमम् ।
   छन्दोरीतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ।। वाग्भट- 2/17

3. भिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि । 2/2/1 वामन-काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

4. शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसंधि पुनरुक्तमत् ।
   व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपद वाक्यगर्भितम् ।। 18
   द्वे भिन्नलिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे ।
   भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत् ।। 19
   वाक्यस्यैते महादोषा षोऽशैव प्रकीर्तिता. । प्रथम परिच्छेद भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

5. वाक्यान्तर प्रवेशेन विच्छिन्नं खण्डितं मतम् ।
   यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तौति वो जिन. ।। वाग्भट- 2/8

आचार्य भोज ने इस "खण्डित" दोष को "सकीर्णता" नामक वाक्य दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया है। "जब एक वाक्य के पद, दूसरे वाक्य के पद से मिल जाते हे, तो सकीर्णता नामक दोष होता है।"[1] आचार्य मम्मट ने भी "सङ्कीर्णता" नामक दोष का लक्षण इस प्रकार से किया है। "जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य के अन्तर्गत आ जाते है, तो वहाँ सकीर्णता नामक दोष होता है।[2] यथा-"किमित न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुण गृहाणेमम। ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तारूपम् ।। 7/240

मम्मट-काव्यप्रकाश

व्यस्तसम्बन्ध दोष

किन्ही दो पदों में परस्पर सम्बन्धी पदों के दूर-दूर रहने पर व्यस्तसम्बन्ध नामक दोष को स्वीकार किया है।[3] यथा--

यथाद्य: सम्पद ज्ञाता देयात्तत्वानि वोऽर्हताम् ।" 2/19 वाग्भट

इस वाक्य में "आद्य." और "अर्हतान्" शब्द परस्पर सम्बन्धी होते हुए भी एक दूसरे से दूर है। अत यहाँ पर "व्यस्तसम्बन्ध" नामक दोष है। आचार्य मम्मट ने इसे "अस्थानस्थपदता" नामक दोष स्वीकार किया है। यथा--

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।

स्रज न कचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 7/237

1• वाक्यान्तरपदैर्मिश्र संकीर्णमिति तद्विदु. ।

भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण - 1/23

2• यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति ।

7/16 - मम्मट-काव्यप्रकाश

3• सम्बन्धिपददूरत्वे व्यस्तसम्बन्धमुच्यते ।

यथाद्य. सम्पदं ज्ञाता देयात्तत्वानि वोऽर्हताम् ।। 2/19 वाग्भट

यहाँ "काचिन्न विजहौ" में "काचित्" के बाद "न" का प्रयोग होना चाहिए, अत: काचित् के पूर्व "न" का प्रयोग कर देने से यहाँ पर अस्थानस्थपदता" नामक दोष है ।

असम्मित दोष

जहाँ पर शब्द और अर्थ सन्तुलित न हों, अर्थात् शब्द- जाल दीर्घ हो और अर्थ छोटा हो तो वहाँ "असम्मित" नामक दोष होता है ।[1] यथा--

"मानसौक. पतधानदेवासनविलोचन ।
तमोरिपुविपक्षारिप्रिया दिशतु वो जिन ।।" 2/21 वाग्भट

इस श्लोक में दो लम्बी-लम्बी पदावलियाँ है । प्रथम- "मानसोक पतधानदेवासनवि-लोचन " और द्वितीय "तनोरिपुविपक्षारिप्रियान्।" इनमें प्रथम का अर्थ "कमल नयन" और द्वितीय का अर्थ "लक्ष्मी" । ये अर्थ शब्दावली की अपेक्षा अत्यन्त छोटे हैं अत. शब्द और अर्थ में परस्पर सन्तुलन न होने के कारण आचार्यों ने इसमें "असम्मित" नामक दोष स्वीकार किया है । आचार्य भोज ने इसे "अपुष्टार्थ" पद दोष के रूप में स्वीकार किया है । भोज के अनुसार, "जब वाच्यार्थ तुच्छ हो अर्थात् अपने लिए प्रयुक्त वाचक शब्दों की अपेक्षा अत्यल्प हो, तब वह पद "अपुष्टार्थ" नामक दोष के रूप में स्वीकार किया जाता है ।[2] यथा --

"शतार्धपचाशभुजा द्वादशाधार्धलोचन. ।
विंशत्यधार्धमूर्धा व: पुनातु मदनान्तक. ।।" भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण -1/6

1• शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव सम्मितौ ।
तदसम्मितमित्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो यथा ।। वाग्भट 2/20

2• यत्तु तुच्छाभिधेयं स्यादपुष्टार्थ तदुच्यते । 1/9 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

अपक्रम दोष

विभिन्न कार्यों के पूर्वापर क्रम की लोकप्रसिद्ध मान्यता का उलंघन करके, जहाँ पर क्रम में कुछ उलट-फेर कर दिया जाता है, वहाँ पर "अपक्रम" दोष माना जाता है।[1] यथा—

"यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून्देवाश्च वन्दते।" 2/22 वाग्भट

यहाँ पर कवि ने क्रम के विरुद्ध सर्वप्रथम भोजन, तत्पश्चात् स्नान और गुरु तथा देवताओं की वन्दना करना स्वीकार किया है, अत यहाँ पर "अपक्रम" दोष माना गया है। आचार्य दण्डी वामन और भोज ने भी इस "अपक्रम" दोष को स्वीकार किया है। भोज के अनुसार "जो वाक्य क्रमभ्रष्ट हो अर्थात् करणीय कर्मों के पौर्वापर्य का ध्यान न रखा गया हो, उसे "अपक्रम" दोष स्वीकार किया है।[2] आचार्य मम्मट ने इसे "अक्रमता" नामक दोष स्वीकार किया है। "जहाँ क्रम विद्यमान न हो"।[3] यथा-

"द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्र कौमुदी ।। 7/253
अत्र त्वं शब्दानन्तर चकारो युक्त. ।

1• अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून्देवाश्च वन्दते ।। 2/22 वाग्भट

2• वाक्यं यत्तु क्रमभ्रष्ट तदपक्रममुच्यते ।। 1/48
यथा--"कारयित्वा क्षौर ग्रामप्रधानो मज्जितश्चत भुक्तावाश्च ।
नक्षत्रतिथिवारांज्यौतिषिकं प्रष्टु चलित· ।।
भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

3• अविद्यमान: क्रमो यत्र । मम्मट 7/20 काव्यप्रकाश

छन्दोभ्रष्ट दोष

यदि किसी वाक्य के लक्षण छन्दशास्त्रनिर्दिष्ट लक्षणों के विरुद्ध हो तो वहाँ "छन्दोभ्रष्ट" नामक दोष स्वीकार करना चाहिए।[1]

यथा- "स जयतु जिनपति. परब्रह्ममहानिधि.।" 2/23 वाग्भट

इस श्लोकार्द्ध में "स जयति जिनपति." अनुष्टुप छन्द का पाद है-- किन्तु इसमें छन्द. शास्त्रनिर्दिष्ट अनुष्टुप छन्द का लक्षण नहीं है, क्योंकि अनुष्टुप का लक्षण इस प्रकार से स्वीकार किया गया है - "श्लोके षष्ठ गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पचमम्" इत्यादि इस नियम के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में जो षष्ठ वर्ण "न" है उसे गुरु होना चाहिए न कि लघु, जैसा कि यहाँ पर है। अत यहाँ "छन्दोभ्रष्ट" दोष स्वीकार किया जाता है। आचार्य भोज ने इसे "छन्दोभङ्गता" दोष स्वीकार किया हैं। भोज के अनुसार, "जो उक्ति छन्दोभङ्गता से युक्त होती है, उसे "भग्नछन्द" कहा जाता है।"[2]

यथा- "यस्मिन्पंच पचजना आकाशश्च प्रतिष्ठित.।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मण ।।" 1/38
अत्र पंचमवर्णस्य लघो: स्थाने गुरो करणाच्छन्दोभङ्ग.।।

आचार्य मम्मट ने इस दोष को "हतवृत्त" दोष के अन्तर्गत अश्रव्य, अप्राप्तगुरुभावान्त-लघु तथा रसाननुगुण इन तीन प्रकार के रूपों को स्वीकार किया है।[3] यथा-

---

1. छन्द. शास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्ट हि तद्यथा।
स जयतु जिनपति परब्रह्ममहानिधि.।। 2/23 वाग्भट

2. भग्नच्छन्द इति प्राहुर्यच्छन्दोभङ्गवद्वच.। 1/14 भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

3. हत लक्षणानुसरेणऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्। 7/5 मम्मट काव्यप्रकाश

अमृतअमृतक: सन्देहो मधून्यपि नान्यथा मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम् ।

सकृदपि पुनर्मध्यस्थ सन् रसान्तरविज्जनो वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात्

प्रियादशनच्छदात् ।। मम्मट - काव्य प्रकाश 7/2/6

इसमें "यदिहान्यत् स्वादु स्यात्" यह अश्रव्य है । अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूप हतवृत्त" का उदाहरण निम्न प्रकार से है--

"विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुंजितपुंजितद्विरेफ. ।

नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानस वसन्त. ।। 7/218 मम्मट काव्यप्रका.

यहाँ पर "हरि" शब्द अप्राप्तगुरुभावान्तलघु है । "हरिप्रमुदितसौरभ" यह पाठ उचित है । रसाननुगुण हतवृत्ता का उदाहरण निम्न प्रकार से है--

"हा नृप! हा बुध! हा कविबन्धो!

विप्रसहस्रसमाश्रय । देव !

मुग्ध ! विदग्ध ! सभान्तररत्न ! क्वासि गत: क्व वयं च तवैते ।। 7/220

हास्यरस व्यंजकमेतद् वृत्तम् ।

इस श्लोक में करूण रस की प्रधानता है । अत: करूण रस के अनुरूप मन्दाक्रान्ता" आदि छन्द का प्रयोग स्वीकार करना चाहिए । लेकिन कवि ने "दोधक" छन्द का प्रयोग किया है, जो कि हास्य रस का व्यंजक है । अत. इस प्रकार से रसाननुगुण होने से यहाँ हत्तवृत्त दोष है ।

रीतिभ्रष्ट दोष

जिस वाक्य छन्द में किसी रीतिविशेष का यथेष्ट निर्वाह नहीं हो पाता, उसमें "रीतिभ्रष्ट" नामक दोष उत्पन्न हो जाता है ।[1] यथा--

---

1. रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भविद्यया ।
   जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दित: ।। 2/24 वाग्भट

"जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दित. ।" वाग्भट 2/24

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में असमस्त पद होने से वैदर्भी रीति है, किन्तु उत्तरार्द्ध में "इन्द्राद्यमरवन्दित." समस्त पद के प्रयोग से गौडी रीति है । एक ही पद्य में दो रीतियों का प्रयोग होने से इसमें "रीतिभ्रष्ट" नामक दोष है । आचार्य भोज ने इसे "अरीतिमत्" वाक्यदोष के रूप में स्वीकार किया है ।[1]

यतिभ्रष्ट दोष

जिस वाक्य में पद के बीच में ही यतिभङ्ग हो जाय उसे "यतिभ्रष्ट" नामक दोष स्वीकार किया है ।[2] यथा

"नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ।" 2/25 वाग्भट

इस वाक्य को पढ़ने से "जात्स्वामि" के पश्चात् यतिभङ्ग हो जाता है और "जात्स्वामि पद का "ने" अंश दूसरे पाद के साथ जोड़ना पड़ता है । इसलिए पद के मध्य में ही यतिभङ्ग होने के कारण "यतिभ्रष्ट" दोष स्पष्ट है । आचार्य भोज ने इसे "भग्नयति" दोष के रूप में स्वीकार किया है ।[3] भामह, दण्डी और वामन ने इसे "यतिभ्रष्ट"[4] नामक दोष स्वीकार किया है । दण्डी की परिभाषा भोज से अधिक स्पष्ट है ।

---

1. गुणाना दृश्यते यत्र श्लेषादीना विपर्ययः अरीतिमदिति प्राहुस्तत्त्रिधैव प्रचक्षते ।
   शब्दार्थोभिययोगस्य प्राधान्यात् प्रथमं त्रिधा भूत्वा श्लेषादियोगेन पुनस्त्रेधोपजायते ।।
   1/28-29

2. पदान्तविरतिप्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।
   नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ।। 2/25 वाग्भट

3. अस्थाने विरतिर्यस्य तत्तु भग्नयतीष्यते ।। 1/27 भोज सरस्वतीकण्ठाभरण

4. श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः ।
   तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा ।। 3/152 दण्डी काव्यादर्श

असत्क्रिया दोष

जिस वाक्य में कोई क्रिया पद ही न हो उस वाक्य में "असत्क्रिया" नामक दोष स्वीकार करना चाहिए।[1] यथा--

"यथा सरस्वतीं पुष्पै. श्रीखण्डैर्घुसृणै: स्तवै.।" 2/26 वाग्भट

इस वाक्य में "पूज्यामि" क्रिया पद के न होने से "असत्क्रिया" नामक दोष स्वीकार किया गया है। अचार्य भोज ने इसे "अशरीरत्व" दोष के नाम से स्वीकार करते है। "जो वाक्य क्रियापद से रहित हो वह "अशरीर" अथवा "अशरीरत्व" दोष से युक्त होता है।"[2] यथा--

शैलसुतारूढार्धं मूर्धार्बद्धभुग्नशशिलेखम्।

शीर्षपरिष्ठितगङ्गं सन्ध्याप्रणतं प्रमथनाथम्।।" भोज सरस्वतीकण्ठाभरण 1/40

यहाँ पर "प्रणाम" क्रियापद के न होने से यह वाक्य "अशरीररत्व" दोष से युक्त है।

आचार्य वाग्भट ने पददोष, वाक्यदोष का वर्णन करने के पश्चात "वाक्यार्थ" दोष का भी उल्लेख किया है। देश, काल, शास्त्र, अवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ को प्रतिपादित करने वाले काव्य को रचना बिना किसी कारण विशेष के नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इससे काव्य दूषित हो जाता है।[3]

---

1. सत्क्रियापदहीनं यत्तदसत्क्रियमुच्यते।
   यथा सरस्वतीं पुष्पै श्रीखण्डैर्घुसृणै स्तवै.।। 2/26 वाग्भट

2. क्रियापदविहीनं यदशरीर तदुच्यते। 1/51 भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

3. देशकालागमावस्थाद्रव्यादिषु विरोधिनम्।
   वाक्येऽर्थं न वध्नीयाद्विशिष्टं कारणं विना।। वाग्भट 2/27

सर्वेषामुदाहरणान्येकस्मिन्काव्ये प्रदर्श्यन्ते --

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुटकुटजराजीस्मितदिशि

प्रचण्डे मार्तण्डे हिमकणसमानोऽयमहसि

जलक्रीडायातं मरूसरसि बालद्विपकुल

मदेनान्ध विध्यन्त्यसमशरपातै प्रशमिन. ।। वाग्भट 2/28

उपर्युक्त श्लोक में चैत्रमास में सूर्य की प्रचण्डता समय-विरूद्ध, मरूभूमि में सरोवरों का होना देश विरुद्ध, हाथियों के बच्चों का मदान्ध होना अवस्थाविरुद्ध तथा तीक्ष्ण वाणों से मुनिजनों के द्वारा हाथी के बच्चों को मारना शास्त्रविरूद्ध है । अत. यह काव्य दूषित हो गया है ।

आचार्य दण्डी[1] और भामह ने "देश, काल, कला, लोक, न्याय आगम आदि का विरोध स्वीकार किया है । वामन ने "लोकविद्यविरूद्ध" एक दोष के रूप में स्वीकार किया है । आचार्य भोज ने 'लोकविद्याविरूद्ध' को "त्रिविधविरोध" के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए इसका लक्षण इस प्रकार से किया है, "जहाँ पर प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम रीति से तीन प्रकार का विरोध हो और जो कोई देश, काल, लोक आदि के उल्टा दिखाई पड़े उसे प्रत्यक्ष विरोध स्वीकार किया है ।[2] " यथा--

"सुराष्ट्रेष्वस्ति नगरी मथुरा नाम विश्रुता ।

अक्षोटनारिकेराढया यदुपान्ताद्रिभूनय. ।। 1/66 भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

1· देशकाल कलालोकन्याय आगमविरोधिच । दण्डी-काव्यादर्श - 3/126

2· विरूद्धं नाम तद्यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत
प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदागमवर्त्मना ।। 54
यो देशकाललोकादिप्रतीप: कोऽपि दृश्यते ।
तमामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धय: ।। भोज-सरस्वतीकण्ठा भरण - 1/55

अतः यहाँ देशकृत प्रत्यक्ष विरोध है ।

काल विरोध का उदाहरण

"पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।

मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिन. ।।" भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण- 1/67

अत: यहाँ पर कमलिनी का रात्रि में, कुमुदिनी का दिन में, वसन्त में हिज्जलों के फूलने का अभाव होने से और ग्रीष्म में मेघों के कारण दुर्दिन की उपस्थिति बताने से यहाँ काल विरोध है । काल के अन्तर्गत रात, दिन, ऋतु आदि है । दण्डी ने ऋतुओं के अतिरिक्त दिन-रात आदि को भी काल की सीमा में स्वीकार किया है, "कालो रात्रिंदिवर्त्तव." 3/162 - काव्यादर्श - दण्डी

भोज ने लोक विरोध का उदाहरण इस प्रकार से स्पष्ट किया है---

"अधृतकेसरो हस्ती तीक्ष्णश्रृङ्गस्तुरङ्गम: ।

गुरुसारोऽयमेरण्डो नि: सार. खदिरद्रुम. ।।

भोज - सरस्वतीकण्ठाभरण - 1/68

यहाँ पर हाथी, घोड़ा, एरण्ड, खादिर आदि में केसर आदि की उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं होती । अत: यहाँ लोक विरुद्ध दोष है । आचार्य मम्मट ने प्रसिद्धिविरुद्धता" अर्थदोष तथा "विद्याविरुद्धता" अर्थदोष स्वीकार किया है ।

प्रसिद्धिविरुद्धता का उदाहरण-

"इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने ।

यदेतस्मिन् हेम्न: कटकमिति धत्से खलुधियम् ।

इदं तद्दु:साधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा

तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् "।। मम्मट-काव्यप्रकाश-7/256

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

विद्याविरूद्धता अर्थ दोष का उदाहरण

"सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुध ।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ।।"

मम्मट-काव्यप्रकाश - 2/268

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरूद्धम् ।

दोष का अलङ्कार से सम्बन्ध

काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने दोष की व्याख्या की है तथा पद, वाक्य, अर्थ एवं अलङ्कारादिगत दोषों का भेदोंपभेद निर्देश पूर्वक विवेचन किया है । भामह दण्डी आदि विभिन्न आचार्यों ने अलङ्कार दोषों के निरूपण के अवसर पर केवल उपमा अलङ्कार गत दोषों का विवेचन करते हैं । भामह ने- हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद वचनभेद, विपर्यय, उपमाधिकत और अदृश्यता इन सात उपमालङ्कार के दोषों को मान्यता प्रदान की है ।[1] इसके अनन्तर दण्डी केवल लिङ्ग-वचन चार उपमादोष मानते हैं । इसके साथ ही इन्होंने अलङ्कार दोषों को दोष मानने का मुख्य आधार उनका सहृदयों के लिए उद्वेगजनक

---

1. हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्यय. ।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च । 39
त एत उपमादोषा. सप्त मेधाविनोदिता: ।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक् ।। 40 भामह-काव्यालङ्कार

2. न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।
दण्डी-काव्यादर्श-2/5

होना स्वीकार किया है। वामन ने 'कमर्द' नामक अलङ्कार के अतिरिक्त भामह सम्मत समस्त छः दोषों को अङ्गीकार किया है। इन्होंने विपर्यय नामक उपमादोष का अन्तर्भाव हीनता एवं अधिकता दोषों में ही प्रतिपादित किया है, क्योंकि विपर्यय नामक दोष भी उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता का होना ही है। जहाँ उपमान में आधिक्य होगा वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य रहेगी एवं जहाँ उपमान में हीनता होगी वहाँ उपमेय में आधिक्य अवश्य होगा इस प्रकार विपर्यय दोष का हीनता एवं आधिक्य दोषों में अन्तर्भाव हो जाने के कारण इसका पृथक परिगणन असङ्गत है, तथा इसे दोष नहीं माना है।

आचार्य रुद्रट ने उपमा के केवल चार दोष स्वीकार किये हैं— सामान्य शब्द-भेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि। काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु ने भामह को अभिमत समस्त उपमा दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव प्रस्तुत किया है।

भोज ने भी वाक्यगत एवं वाक्यार्थगत दोषों के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों को अभिमत छः उपमादोषों का परिगणन किया है। यहाँ पर इनकी अपनी मौलिकता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। इन आचार्यों की परम्परा से हटकर मम्मट ने उपमा दोषों तथा अन्य अलङ्कार दोषों का उल्लेख करते हुए भी इन दोषों का अन्तर्भाव पद वाक्यादि दोषों में प्रतिपादित किया है। विश्वनाथ भी इस प्रसङ्ग में मम्मट का का ही अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। अन्य अलङ्कारों के दोष निरूपण के

---

1. सामान्य शब्दभेदो वैषम्यमसम्भवोऽप्रसिद्धिश्च।
   इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः॥

11/24 रुद्रट-काव्यालङ्कार

प्रसङ्ग• में आचार्य वाग्भट का विवेचन महत्वपूर्ण है । इन्होंने उपमाअलङ•कार के निरूपण के अनन्तर उपमा अलङ•कार के दोषों का उदाहरणोपन्यासपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार उपमान एव उपमेय का लिङ्ग•भेद, वचन भेद, उपमान का हीन होना अथवा उपमान का आधिक्य ये चार उपमा अलङ कार के दोष हैं । यहाँ पर इन्होंने लिङ्ग•भेद को कुछ स्थानों पर दोष न मानने का भी उल्लेख किया है, इस बात को इन्होंने अन्य आचार्यों का अभिमत बताया है किन्तु यहाँ पर आचार्य वाग्भट बहु वचन का प्रयोग कर संभवत: कुछ स्थानों पर लिङ्ग•भेद उपमा दोष को अस्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं । वाग्भट ने चार उपमा दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये है ।

हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाच. ।

ध्वाङ्क्ष•स्येव च दाक्ष्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ।। 4/59 वाग्भट

हिममिव कीर्तिधवला इस अंश में लिङ्ग• भेद नामक उपमा दोष प्रस्तुत किया गया है, इसका अभिप्राय है "हे सुभग तुम्हारी कीर्ति हिम के समान स्वच्छ या शुभ्र है ।" यहाँ पर"कीर्ति" उपमेय है तथा स्त्रीलिङ्ग• है जबकि "हिममिव" यह उपमान नपुसङ्क•लिङ्ग• में प्रयुक्त है । अत. उपमान और उपमेय में स्पष्ट रूप से लिङ्ग• भेद प्रस्तुत होने से यह "लिङ्ग•भेद" नामक उपमादोष का स्थल है ।

"चन्द्रकलेवाति निर्मला वाच:" इस अंश में आचार्यवाग्भट ने "वचन-भेद" नामक उपमादोष को प्रस्तुत किया है, इसका अभिप्राय है'वाणी चन्द्रकला के समान अत्यधिक निर्मल है'। यहाँ पर वाणी उपमेय है एव बहुवचन में प्रयुक्त है, जबकि उपमानभूत चन्द्रकला शब्द एक वचन में प्रयुक्त है । अत: यह "वचन-भेद" नामक उपमा दोष का

उपर्युक्त उदाहरण है । इसके अनन्तर आचार्य वाग्भट ने "उपमा-हीनता" से होने वाले दोष का उदाहरण प्रस्तुत किया है— "ध्वाङ्क्षस्येव च दाक्ष्यम्" अर्थात तुम्हारी दक्षता कौवे के समान है । यहाँ पर उपमान भूत ध्वाङ्क्ष (कौवा) उपमेय रूप राजा की चातुरी से अत्यधिक हीन बताया गया है अत. यह उपमान की हीनता नामक उपमा दोष का उचित उदाहरण है ।

चतुर्थ उपमा दोष के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित अंश प्रस्तुत किया गया है— "नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ।" अर्थात् तुम्हारा वक्षस्थल आकाश के समान फैला हुआ है । यहाँ पर "वक्षस्थल" उपमेय है, एवं "नभ" उपमान है । वक्ष की अपेक्षा उपमाभूत नभ को अत्यधिक विशाल बताने के कारण उपमान की अधिकता का उपमादोष है ।

दोष का रस से सम्बन्ध

मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने दोष का लक्षण करते हुए माना है, कि दोष वह है जिसकी उपस्थिति से मुख्यार्थ (रसादि अर्थ) की प्रतीति में बाधा पहुँचती है । प्राय समस्त रसवादी आचार्य काव्य का मुख्य तत्व रस को मानते हैं । इस काव्यात्मभूत रस का आश्रय वाच्य होता है । इसका अभिप्राय यह होता है, कि वाच्यार्थ के द्वारा ही विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का प्रतिपादन कर स्थायी भाव का परि-पोष किया जाता है । स्थायी भाव की पुष्टि ही रस है । इस प्रकार रस एवं वाच्य दोनों का प्रतिपादन पद, वाक्य तथा वाक्यार्थों के द्वारा ही सम्भव होता है । अत. ये काव्य दोष रस की प्रतीति के ही विघातक होते हैं, तथापि विभिन्न आचार्यों ने इनकी व्याख्या पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ आदि के दोषों के रूप में करते हैं ।

165
अन्य आचार्यों ने रस दोषों का भी परिगणन करते हुए उनका लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किया है। किन्तु वाग्भटालङ्कार के लेखक आचार्य वाग्भट ने रस दोषों का परिगणन नहीं किया है। इन्होंने अपने काव्य लक्षण ग्रन्थ में केवल पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का परिगणन करते हुए इनका लक्षण एव उदाहरण प्रस्तुत कर इनकी तर्कसंगत व्याख्या की है--

> अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् ।
> स्वसङ्केतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ।। 6 ।।
> ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।
> क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ।। 6

वाग्भट - द्वितीय परिच्छेद

अलङ्•कार सिद्धान्त

काव्य रचना में संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने चमत्कार के प्रति विशेष आदर दिखाया है, इसी चमत्कार की अवतारणा के मूल में अलङ्•कारों की कल्पना स्वीकार की गयी । संस्कृत काव्यशास्त्र का आरम्भ अलङ्•कार सिद्धान्त के आविर्भाव के साथ हुआ । यही कारण है, कि प्रारम्भ के अधिकाश आचार्यों ने अपने लक्षण ग्रन्थों का नाम "काव्यालङ्•कार" रक्खा और उस युग में काव्यशास्त्र प्राय: "अलङ्•कार शास्त्र" के नाम से जो अभी तक जीवित है, अभिहित हुआ ।

वैदिक काल में अलङ्•कार शब्द अलङ्•कृति के रूप में "अर" पद से सम्बन्धित माना गया है । ऋग्वेद के सप्तम मण्डल सूक्त 293 में इस पद का प्रथम प्रयोग माना जाता है । उपनिषद् काल में यह "अर" "अलू" में परिवर्तित दिखाई पड़ता है । छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय 8 खण्ड 8 में अलङ्•कार शब्द का प्रयोग मण्डन आदि के अर्थ में है— "तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति"— पृ० 18

दोनों से प्रजापति ने कहा "तुम अच्छीतरह अलङ्कृत होकर सुन्दर वसन धारण कर जल के शकोरे में देखो । मूलत: "अलङ्•कार" शब्द "अलू" संज्ञा पद से ही बना है, "अलम्+कृ+घञ्" प्रत्यय जिसका अर्थ है, "अलङ्•क्रियते अनेन इति अलङ्•कार: ।" यहाँ तृतीया विभक्ति अर्थात् करण के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है । इस सम्बन्ध में आचार्य वामन ने अलङ्•कार की परिभाषा देते हुए यह सङ्के•त किया— "करण व्युत्पत्त्या पुनरलङ्•कार शब्दोऽयम् उपमादिषु वर्तते" ।/1/2 पृ० 6 वामन काव्यालङ्•ार सूत्र वृत्ति

दूसरी व्युत्पत्ति भाव के अर्थ में यह शब्द "अलङ्•कृति: अलङ्•कार के रूप में स्वीकार किया जाता है। वामन के अनुसार "अलङ्•कृतिरलङ्•कार:" ।0/1/2। अर्थात् अलङ्•कृति ही अलङ्•कार है। अलङ्•कार शब्द की व्युत्पत्तिपरक अर्थ यह है--

"अलङ्•करोति इति अलङ्•कार:"

जो अलङ्•कृत करता है। दोनों का तात्पर्य यह है, कि जिस तत्त्व से काव्य की शोभा होती है, उसे अलङ्•कार कहते हैं। फिर भी काव्य प्रयोग के आधार पर पहली व्युत्पत्ति कवि के आधार पर मानी जाती है। जो काव्य रचना के समय सायास अथवा अनायास रूप से अलङ्•कारों का प्रयोग करता है। दूसरी व्युत्पत्ति समीक्षक की दृष्टि से स्वीकार की जाती है। अलङ्•कार की परिभाषा के सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अलङ्•कार की परिभाषाओं का स्वरूप अलङ्•कार सम्बन्धी धारणा के साथ-साथ परिवर्तित होता रहा है--

आचार्य वाग्भट ने अलङ्•कार की परिभाषा का निरूपण इस प्रकार से किया है-- "अनर्थकत्वादि दोषों से रहित और औदार्य आदि गुणों से युक्त तथा अलङ्•कार रहित होने से काव्य कान्ताकान्तिवत शोभित न होने के कारण त्याज्य होता है"[1] आचार्य भरत के अनुसार काव्य अलङ्•कार और गुण दोनों के द्वारा

---

1. दोषैर्मुक्त गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वच: ।
स्त्रीरूपमिव नो भाति त ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ।
वाग्भट- 4/1

अनेक रूपों में अलङ्कृत होता है[1]। आचार्य भामह का विचार है कि जिस प्रकार सुन्दर होते हुए भी कामिनी का मुख बिना आभूषणों के शोभायमान नहीं होता[2]। उसी प्रकार सुन्दर सरस काव्य भी अलङ्कारों के बिना शोभित नहीं होती। भामह शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उक्ति को अलङ्कार मानते हैं[3]। वक्रोक्ति के अभाव में अलङ्कार का अभाव प्रतिपादित किया है[4]। आचार्य दण्डी काव्य के सभी शोभाकारक धर्मों को अलङ्कार मानते हैं। ये धर्म अनेक प्रकार के हैं[5]। काव्य में शोभा के सम्पादक होने से दण्डी ने रस आदि का ग्रहण भी रसवद् आदि

---

1. अलङ्कारैश्च गुणैश्चैव बहुभिः समलङ्कृतम्। 7/6

आचार्य-भरत

2. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।

भामह-काव्यालङ्कार 1/13

3. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

भामह-काव्यालङ्कार-1/36

4. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना।

भामह-काव्यालङ्कार-2/85

5. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

दण्डी-काव्यादर्श 2/1

अलङ्•कारों के अन्तर्गत किया जो तीन प्रकार के हैं[1]। काव्य के शोभाकारक होने के कारण आचार्य दण्डी ने काव्यगत सन्धि, सन्ध्यङ्•, वृत्ति, वृत्यङ्• आदि को भी अलङ्•कार माना है[2]। आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानी है, किन्तु काव्य की उपादेयता सौन्दर्य रूप अलङ्•कार के कारण स्वीकार की[3]। आचार्य वामन के अनुसार काव्यात्मक सौन्दर्य ही अलङ्•कार है। यद्यपि काव्य की शोभा गुणों के द्वारा होती है[4], तथापि उस शोभा का अतिशय 'अलङ्•कार' ही करते हैं[5]। आचार्य रुद्रट ने काव्य में अलङ्•कारों की प्रधानता को स्वीकार करते हुए अपने ग्रन्थ का नाम "काव्यालङ्•कार" स्वीकार किया[6]। आचार्य

1• प्रेय: प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम् ।

ऊर्जस्वि रूढाहङ्•कारं युक्तोत्कर्ष व तत्त्रयम् ।।

दण्डी–काव्यादर्श – 2/275

2• यच्च सन्ध्यङ्•वृत्त्यङ्• लक्षणाद्यागमान्तरे ।

व्यावर्णितमिदं चेष्टात्वमलङ्•कारतयैव न: ।।

दण्डी–काव्यादर्श – 2/367

3• काव्यं ग्राह्यमलङ•कारात् । 1/1/1

सौन्दर्यमलङ्•कार: । 1/1/2 वामन–काव्यालङ्•कार सूत्र वृत्ति

4• काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा गुणा: । 3/1/1 वामन–काव्यालङ्•कार सूत्र वृत्ति

5• तदतिशयहेतवस्त्वलङ्•कारा: । 3/1/2 वामन–काव्यालङ्•कार सूत्र वृत्ति

6• काव्यालङ्•कारोऽयं ग्रन्थ: क्रियते यथायुक्ति ।। – 1/2 रुद्रट–काव्यालङ्•कार

कुन्तक ने अलङ्कार सहित उक्ति को काव्य माना है[1]। आचार्य भोज ने अलङ्कार शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है, जिस अर्थ में इसका प्रयोग वामन ने अपने सौन्दर्यमलङ्कारः सूत्र (1-1-2) में किया है, यहाँ सौन्दर्य का अर्थ है, "सामान्य काव्य सौन्दर्य इसी अर्थ में भोज ने वक्रोक्ति शब्द का भी प्रयोग किया है। इस विषय में उन्होंने भामह का अनुसरण किया है। सभी प्रकार के अलङ्कारों को वक्रोक्ति के नाम से इसी कारण जाना जाता है। क्योंकि इनमें काव्य शोभाकरत्व होता है। अलङ्कारों के वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति में तीन वर्ग स्वीकार किये हैं[2]। आनन्दवर्धन ने प्रथम और प्रकार प्रहार इस प्रकार से किया है, कि काव्य में अलङ्कार का नियोजन रस आदि के रूप में होना चाहिए अङ्गी रूप में नहीं[3]। आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी मम्मट आदि ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानकर गुण रीति और अलङ्कार का विचार उसके अनुरूप करते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार "जिस प्रकार कामिनी के शरीर

---

1. अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
   तदुपायतयातत्वं सालङ्कारस्य काव्यता ।। 1/6 कुन्तक-वक्रोक्तिजीवित

2. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभोक्तिः रसोक्तिरीति ।
   तत्रोपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, सोऽपि गुणप्राधान्ये स्वभोक्तिः विभावानुभावव्यभिचारी संयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति ।। 7/37/-72
   शृङ्गार प्रकाश-मद्रास मैनिस्क्रिप्ट

3. विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।। 2/18
   आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक

को कुण्डल आदि अलङ्कार शोभित करते हैं, उसी प्रकार काव्यगत अलङ्कार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभित करते हैं[1]। अतः आनन्दवर्धन के विचार से अलङ्कारों का विधान रस की दृष्टि से किया गया है[2]। मम्मट[3], राजशेखर,[4] हेमचन्द्र[5], विश्वनाथ[6] आदि आचार्यों ने अलङ्कार के जो लक्षण किये हैं, वे इसी दृष्टिकोण के लिए हुए हैं।

---

1. तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
   अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ 2/6 आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक
2. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
   अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक 2/16
3. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ 8/67 मम्मट-काव्यप्रकाश
4. अनु[illegible] त्वामलङ्कुर्वन्ति।
   राजशेखर-काव्यमीमांसा- पृ० 14
5. अङ्गाश्रिता अलङ्काराः। पृ० 16
   हेमचन्द्र - काव्यानुशासन
6. शब्दार्थयोरस्थिरा धर्माः शो[illegible] तिनः
   रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥
   10/1 विश्वनाथ-सा[illegible]

अलङ्•कारों की संख्या का निर्धारण विभिन्न आचार्यों के अनुसार अलग-अलग है। आचार्य वाग्भट ने 4-शब्दालङ्•कार तथा 35 अर्थालङ्•कार को स्वीकार किये हैं। चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक ये चार शब्दालङ्•कार तथा जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रांतिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशयोक्ति, हेतु, पर्यायोक्ति समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, संश्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुत प्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर, और संकर ये 35 अर्थालङ्•कार स्वीकार किये[1]। वाग्भट ने कुल 39 अलङ्•कारों की संख्या मानी है। आचार्य भरत ने 4 अलङ्•कार स्वीकार किये, भामह ने 39, दण्डी ने 35, उद्भट ने 40, वामन ने 33, रूद्रट ने 52,

---

1• चित्र वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलङ•क्रिया: ।
अर्थालङ्•कृतयो जातिरूपमा रूपकं तथा ।। 4/2
प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशय: ।
दृष्टान्तव्यतिरेकौ चापह्नुतिस्तुल्ययोगिता ।। 4/3
उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यास: समासोक्तिर्विभावना ।
दीपकातिशयौ हेतु: पर्यायोक्ति: समाहितम् ।। 4/4
परावृत्तिर्यथासंख्यं विषम: स सहोक्तिक: ।
विरोधोऽवसर: सारं स श्लेषश्च समुच्चय: ।। 4/5
अप्रस्तुत प्रशंसा स्यादेकावल्यनुमापि च ।
परिसंख्या तथा प्रश्नोत्तरं संकरं एव च ।। 4/6

—— वाग्भट

भोजराज ने 72, मम्मट ने 67, रुय्यक ने 81, जयदेव ने 100, विश्वनाथ ने 88, अप्पयदीक्षित ने 124, और आचार्य जगन्नाथ ने 71 अलङ्कार माने हैं।

आचार्य वाग्भट ने चित्र अलङ्कार को शब्दालङ्कार के अन्तर्गत मानते हुए उसका भेद और लक्षण निम्न प्रकार से विवेचित किया है—

चित्र अलङ्कार

जिस पद्यविन्यास में अङ्ग सन्धि रूप अक्षरों से "प्रसाद गुण" युक्त अर्थ की कल्पना की गई हो, उसे चित्रालङ्कार कहते हैं। इसे "चित्र" इसलिए माना गया है, क्योंकि इससे की गई रचना पाठक को आश्चर्य चकित कर देती है[1]।

आचार्य वाग्भट चित्रालङ्कार के पाँच भेद माने हैं— "आकारचित्र, एकस्वरचित्र, मात्राच्युतचित्र, बिन्दुच्युतचित्र, व्यञ्जनच्युतचित्र।"

उदाहरण—

जनस्य नयनस्थानन्दवान एनश्छिनत्त्विनः।

पुनः पुनर्जिनः पीनज्ञानन्दवान्धनं स नः॥ वाग्भट 4/8

इस श्लोक में जो "जनस्य" इत्यादि पद हैं, उनकी सन्धियों में समान वर्ण "न" होने से "चित्र अलङ्कार" माना है। यह षोडशदल-पद्मबन्ध चित्र है,

---

1. यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना।
   सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत्॥

   वाग्भट - 4/7

किन्तु कुछ आचार्यों के अनुसार गोमूत्रिका-बन्धचित्र भी हो सकता है ।

एकस्वरचित्रमाह

गगनगगणवरकरतरचरण परपद शरणागजनपथकथक

अमदन गतमद गजकरयमल शममय जय भपघनवनदहन ।। 4/9

सम्पूर्ण श्लोक में अकार के अतिरिक्त अन्य कोई स्वर न होने के कारण स्वरचित्र है ।

मात्राच्युतकमपि स्वरचित्रम्

कुलस्थितिमधः कुर्वन्पत्रैर्जुष्टो गताक्षरैः ।

विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठत. पथिकस्य सः ।। वाग्भट 4/10

"विट" शब्द से इकार हटाने पर "वट" शब्द की उपस्थिति के कारण यहाँ "चित्र" नामक अलङ्कार है । अतः "वट" शब्द के कारण इस पद्य का अर्थ है— अपनी जड़ों को पृथ्वी के नीचे तक फैलाये रखने वाला नवीन पत्तों से लदा हुआ, वह वट वृक्ष पृथ्वी पर बैठे हुए पथिक के द्वारा सेवनीय है ।

बिन्दुच्युतकमपि स्वरचित्रम्

धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्धता. ।

गुरूणां वञ्चने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ।। वाग्भट 4/11

इस श्लोक के दो अर्थ है— एक "वचने" से और दूसरा "वञ्चने" से ।

"वञ्चने" शब्द के अनुस्वार को हटा देने से नविन अर्थ की उद्भावना में ही "चित्र अलङ्कार होता है ।

"ककाकुकङ्कैकाङ्कैकिकोकैककुः ककः।

अकुकौकः काककाकुक्कुककाङ्कुः ।। वाग्भट 4/12

"क" व्यंजन से समस्त श्लोक की रचना होने से चित्र नामक अलङ्कार है ।

तथैकव्यंजनच्युतकमपि व्यंजनचित्रं ततस्तदेवाह-

कुर्वन्दिवाकराश्लेषं दधच्चरण5म्बरम् ।

देव यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ।। 4/13 वाग्भट

यहाँ पर "करेणु" शब्द का दो प्रकार से अर्थ लिया गया है-- प्रथम "करेणु" द्वितीय "करेणु" के शब्द के "क" को हटा देने पर "रेणु" द्वारा अर्थ किया गया है ।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद में 18 श्लोकों में चित्र चक्र का वर्णन किया है। चित्र अलङ्कार के अन्तर्गत {क} अर्धगोमूत्रिकाबन्ध {ख} अर्धभ्रम {ग} सर्वतोभद्र का वर्णन करके "खड्गबन्ध" आदि का वर्णन नहीं किया है । दण्डी ने चित्र के केवल दुष्कर भेदों का ही वर्णन किया है[1]।

आचार्य रुद्रट ने चित्र अलङ्कार के दो रूप माने है । एक का सम्बन्ध आकृतियों से दूसरे का अक्षरों के क्रम विन्यास से[2]। मम्मट आदि आचार्यों ने

---

1. वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेकान्तरमर्धयोः
   गोमूत्रिकेति तत् प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा ।। 3/78
   प्राहुरर्धभ्रमं नाम श्लोकार्ध भ्रमणं यादि ।
   तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ।। 3/80
   यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दु[illegible] ।
   इष्टश्चतुः प्रभृत्येषु दर्शयति सुकरः परः ।। दण्डी-काव्यादर्श

2. भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
   साङ्गानि विचित्राणि च रच्यन्ते तत्र तच्चित्रम् ।।
   रुद्रट-काव्यालङ्कार 5/1

चित्रालङ्•कार को महत्व नहीं दिया है । मम्मट ने चित्रालङ्•कार के एक रूप को माना है[1]। भोज ने छः प्रकार के चित्रालङ्•कार माने हैं— वर्ण, स्थान, स्वर, आकार, गति, बन्ध चित्र[2]।

वक्रोक्ति अलङ्•कार

आचार्य वाग्भट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्•कार स्वीकार करते हुए, उसके भेद और लक्षण का निरूपण निम्न प्रकार से किया है-
जिस पद विन्यास में उत्तर देने वाला व्यक्ति पद भङ्ग• करके या श्लेष के आश्रय से, पूछने वाले के अर्थ से भिन्न अर्थ का उत्तर देता है, तो वहाँ वक्रोक्ति नामक अलङ्•कार होता है । भङ्ग• और श्लेष से वक्रोक्ति के दो भेद माने जाते हैं- "सभङ्ग•श्लेष" वक्रोक्ति और "अभङ्ग•श्लेष" वक्रोक्ति[3] ।

<u>भङ्ग•पदोदाहरणमाह</u>

नाथ मयूरो नृत्यति तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ।

ननु कथयामि कलापिनमिह सुखलापी प्रिये कोऽस्ति ।। 4/15

1.• तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ।

मम्मट-काव्यप्रकाश 9/85

2•, वर्णस्थानस्वराकारगति बन्धान्प्रतीह यः ।,

नियमस्तद्बुधै. षोढा चित्रमित्यभिधीयते ।।

भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण 2/109

3• प्रस्तुतादपरं वाक्यमुपादायोत्तरप्रदः ।,

भङ्ग•श्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ।।

वाग्भट- 4/14

इस श्लोक में "मयूर" और "कलापिन:" शब्दों को भङ्ग करके भिन्न अर्थ से उत्तर दिया है । अतएव यह सभङ्ग श्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है ।

अभङ्ग श्लेष

भर्तुः पार्वती नाम कीर्तय न वेत्वां ताडयिष्याम्यहं, क्रीडाब्जेन
शिवेति सत्यमन्छो किंते श्रृगाल: पति: ।
नो स्थाणु: किमु कीलको न हि पशुस्वामी नु गोप्ता गवां,
दोलाखेलनकर्मणीति विजयागौर्योगिर: पान्तु व: ।।

वाग्भट - 4/16

यहाँ श्लेष के आश्रय से "शिव" स्थाणु" और "पशुपति" शब्दों का अर्थ श्रृगाल, ठूँठ और ग्वाला किया गया है । इस प्रकार यह अभङ्ग श्लेष का उदाहरण है ।

आचार्य भामह ने वक्रोक्ति को अलङ्कार मात्र का प्राण स्वीकार करते हुए, वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति अलङ्कार का पर्याय माना है[1]। आचार्य दण्डी ने भामह के विचारों का अनुसरण किया है । दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति को दो समानान्तर वाङ्मय माना और दोनों के मूल में श्लेष विनियोग

---

1. इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगत: ।
   सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम् ।। 2/84
   सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनयाविना ।।

   भामह-काव्यालङ्कार- 2/85

को स्वीकार किया[1]। आचार्य वामन ने सादृश्य लक्षणा के चमत्कार को वक्रोक्ति अलङ्कार माना है[2]। आचार्य रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए, इसके दो भेद माने है- (1) श्लेष वक्रोक्ति (2) काकु वक्रोक्ति। अतः इसे सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है[3]। आचार्य कुन्तक ने काव्य का जीवित तत्त्व "वक्रोक्ति" को माना है।

"वक्रोक्ति जीवित" नामक लक्षण ग्रन्थ एक खण्डित और अपूर्ण कृति आचार्य कुन्तक की है। इन्होंने काव्याङ्गों में वक्रोक्ति को प्राधान्य तथा उपजीव्य स्वीकार किया है। आचार्य कुन्तक के शब्दों में "वक्रोक्ति प्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण करने वाली विचित्र "अभिधा" है[4]।

---

1. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्
   भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। 2/363 दण्डी-काव्यादर्श
2. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। 4/3/8 वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति
3. वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
   वचनं यत्पदभङ्ग्या ज्ञेया सा श्लेष वक्रोक्तिः॥ रुद्रट-काव्यालङ्कार- 2/14
4. प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
   अन्यथैवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्ति रुदाहृता॥
   कुन्तक-वक्रोक्ति जीवित

अनुप्रास अलङ्•कार

अनुप्रास अलङ्•कार को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । जिस पद विन्यास में समान सुनाई देने वाले अक्षरों की पुनरावृत्ति हो तथा माधुर्यादि गुणों की स्फुरणा हो, तो वहाँ अनुप्रास अलङ्•कार होता है । अनुप्रास दो प्रकार का होता है । §1§ "छेकानुप्रास" जिसमें एक वर्ण की आवृत्ति हो तथा §2§ "लाटानुप्रास" जिसमें सम्पूर्ण पद की आवृत्ति होती है[1] ।

छेकानुप्रासोदाहरणमाह-

अलं कलङ्•शृङ्•गार करप्रसरहेलया ।

चन्द्र चण्डीशनिर्माल्यमसि न स्पर्शमर्हसि ।।

वाग्भट- 4/18

प्रथम चरण मे "ल" और "र" की तथा द्वितीय चरण में "च" और "स" की पुनरावृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास है ।

लाटानुप्रास

रणेरणविदो हत्वा दानवान्दानवद्विषा ।

नीतिनिष्ठेन भूपाल भूरियं भूस्त्वया कृता ।। वाग्भट- 4/19

1• तुल्य श्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।

अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ।।

वाग्भट- 4/17

इस पद्य में "रण" "दानव" और "भु" पदों की पुनरावृत्ति होने के कारण यहाँ लाटानुप्रास है ।

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि स्वर्लोकसुखेन किम् ।

त्वं प्रिया यदि न स्यान्मे स्वर्लोकसुखेन किम् ।। 4/20

यहाँ "स्वर्लोकसुखेन किम" इस पाद की पुनरावृत्ति हुई है । अत. इसमें "लाटानुप्रास" अलङ्•कार है ।

अत्र कठोरता लाटानुप्रासेऽपि दोषाय । तदाह--

एकत्रात्रि त्वकलत्रवक्त्रं नेत्रामृतं बिम्बितमीक्षमाण: ।

पश्चात्पपौ सीधुरसं पुरस्तात्प्रमाद कश्चिद्दुभूमिपाल: ।।

वाग्भट-- 4/21

पूर्वार्द्ध में "त्र" और उत्तरार्द्ध में "प" वर्णों की आवृत्ति से इस पद्य में "छेकानुप्रास" अलङ्•कार है ।

आचार्य भामह के अनुसार "सरूप वर्णों का विन्यास अनुप्रास अलङ्•कार है"[1]। भामह ने इसे 2 प्रकार का माना है-{1} ग्राम्यानुप्रास और {2} लाटानुप्रास । आचार्य उद्भट ने "वर्ण" के स्थान पर "व्यंजन" पद का प्रयोग किया है, तथा

1• सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।

किन्तया चिन्तया कान्ते नितान्तेति यथोदितम् ।।

भामह-काव्यालङ्•कार- 1/5

अनुप्रास के अन्तर्गत वृत्तियों का सर्वप्रथम निरूपण उद्भट ने ही किया है[1]।
आचार्य दण्डी ने 2प्रकार के अनुप्रास अलङ्•कार माने है- §1§ वैदर्भप्रिय "श्रुत्यनु-
प्रास" §2§ गौडप्रिय "वर्णानुप्रास" दण्डी ने श्रुत्यनुप्रास को वैदर्भ-प्रिय एव रसो-
पकारक स्वीकार किया है तथा श्रुत्यनुप्रास में समान उच्चरित होने वाले व्यंजनों
का सादृश्य होता है।। स्थान-साम्य के कारण इसे श्रुत्यनुप्रास माना है[2]।
वर्णानुप्रास में वर्णों की आवृत्ति एवं पूर्वोच्चरित वर्णों के अनुभव से जो संस्कार
उत्पन्न होते हैं, उसे बोध कराने वाली समीपता ही वर्णानुप्रास है । इसके दो
भेद हैं -- पादगत तथा पदगत[3]। आचार्य रुद्रट ने "एक व्यंजन की बहुशः आवृत्ति
को अनुप्रास अलङ्•कार माना है, तथा आवृत्ति के बीच में एक दो अथवा तीन
व्यंजनों का व्यवधान रहता है और स्वर की चिन्ता नहीं रहती[4]। रुद्रट ने
अनुप्रास अलङ्•कार में पाँच वृत्तियों को माना है- मधुरा,प्रौढा,परुषा,ललिता
और भद्रा । इन वृत्तियों के जैसे नाम हैं, वैसी इनमें व्यंजन योजना रहती है[5]।

1• सरूपव्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवय: सदा ।।

उद्भट-काव्यालङ्•कार- 256 पृष्ठ
सार संग्रह

2• यथा कयचिच्छ्रुत्या यत् समानमनुभूयते ।।
तद्रूपा हि पदासत्ति: सानुप्रासा रसावहा ।। - 1/52 दण्डी-काव्यादर्श

3• अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते ।
वर्णावृत्तिरनुप्रास: पादेषु च पदेषु च ।। - 1/54
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता । - 1/55 दण्डी-काव्यादर्श

4• एकद्वित्रान्तरित व्यंजनमविवक्षितस्वरं बहुश: ।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रास: ।। 2/18

5• मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तय: पंच ।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफला ।। 2/19

आचार्य मम्मट ने स्वरों की असदृश्यता में व्यंजनों के साम्य को अनुप्रास अलङ्•कार माना है अर्थात् वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास अलङ्•कार है[1]। इसके दो भेद हैं-- ‖1‖ वर्णानुप्रास ‖2‖ शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के छेक तथा वृत्ति दो उपभेद है, शब्दानुप्रास लाटानुप्रास है। अतः मम्मट का अनुप्रास वर्णन सभी उत्तर-वर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।

यमक अलङ्•कार

यमक शब्दालङ्•कार है। "भिन्न अर्थ वाले पाद, पद और वर्ण की संयुक्त या असंयुक्त रूप से आवृत्ति को वाग्भट ने यमक अलङ्•कार माना है तथा यह श्लोक के आदि, मध्य और अन्त में रहता है[2]। इस प्रकार से यमक अलङ्•कार के 18 भेद माने है। यथा--

<u>संयुतावृत्ती पादयमकमाह</u>

दयां चक्रे दया-चक्रे। सतां तस्माद्भवाब्धितम्।

वाग्भट-- 4/23

यह "वृत्ता" नामक छन्द का पाद है, क्योंकि इसमें प्रत्येक पाद चार वर्णों का

---

1. वर्णसाम्यमनुप्रासः।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 9/1.03 सूत्र

2. स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता।

यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम्॥

वाग्भट- 4/22

होता है । अत: "दयां चक्रे" इस प्रथम पाद की आवृत्ति से द्वितीय पाद की रचना की गई है । अत: यहाँ "संयुतावृत्तिमूलक आदि पाद यमक" है ।

मध्यपाद यमक माह

यशस्ते समुद्रा[illegible]गारै: । सदा रोगारै: समानाङ्•कान्ते: ।।

4/24 वाग्भट

यह "सोमराजी" छन्द है, जिसके प्रत्येक पाद में छ: वर्ण होते हैं । अत: इसमें "द्वितीय" और "तृतीय" पादों की आवृत्ति से "संयुता वृत्तिमूलक मध्यपाद यमक" है ।

पादान्तयमकमाह

द्विषामुद्धतानां निहंसि त्वमिन्द्र: ।

मुदम्भोधराणामुदम्भोधराणाम् ।। 4/25 - वाग्भट

इस पद्य में "सोमराजी" छन्द है । इसमें भिन्नार्थक तृतीय और चतुर्थ(अन्त) पादों की आवृत्ति है । अत: यह "संयुता वृत्ति मूलक अन्तपादयमक" का-उदाहरण है ।

अथादिमध्यगोचरं मध्यान्तगोचरं यमकमेकवृत्तेनाह

विभाऽतिरामा परमा रणस्य विभाति रामा परमारणस्य ।

सदैव तेऽजोर्जित राजमान [illegible]र्जितराजमान ।। वाग्भट -4/26

इस पद्य में पृथक-पृथक् अर्थों को प्रकट करने वाले प्रथम पाद की आवृत्ति द्वितीय

पाद में और तृतीय पाद की आवृत्ति अन्तिम पाद के साथ की गई है । अत: यहाँ "संयुतावृत्तिमूलक आद्यन्तपद यमक" है ।

अथायुतावृत्तावादिमध्यगोचरं यमकमाह

सारं गवयसा मध्यराजि काननमग्रत: ।

सारङ्गवयसां निध्यदाम्यं शिखरे गिरे: ।। वाग्भट-4/27

इस श्लोक के आदि पाद की आवृत्ति भिन्नार्थक तृतीय पाद में हुई है, जिससे उनके बीच में द्वितीय पाद आ जाने से व्यवच्छेद उत्पन्न हो गया है । अत: यहाँ पर "अयुतावृत्तिमूलक आदि मध्यपाद यमक" अलङ्कार माना है ।

अमरन्मारस्मेराक्षीणां प्रपञ्चयति स्फुरत्सुरत्वये कुर्वाणानां कलक्षमरंहसम् ।

इह सह हुरैरायामसीनां नरेश नोऽन्वहं सुरतस्त्वये कुर्वाणानां कलक्षमरं हसम् ।।

वाग्भट-4/28

दूसरे पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में है, और इन दोनों के बीच में तृतीय पाद की उपस्थिति से यहाँ पर "अयुतावृत्तिमूलक द्वितीयचतुर्थ पाद यमक" अलङ्कार है ।

अथाद्यन्तयमकमाह

आनन्दकन्द न रराज राजिकावैस्तटनामियमत्र नाद्रौ ।

क्रीडाकृतो यत्र दिगन्तनागा आसन्नदे वानरराजराजि ।।

वाग्भट-4/29

इस पद्य में पृथक अर्थ को प्रकट करने वाले प्रथम और चतुर्थ पादों की आवृत्ति है, तथा इनके मध्य में द्वितीय और तृतीय पाद की उपस्थिति से "अयुतावृत्तिमूलक आद्यन्तपद यमक" अलङ्कार है ।

श्लोकावसानावृत्तिमहायमकम्,तदाह

रम्भारामा कुरबककमलारं भारामा कुरबककमला ।

रम्भा रामा कुरबक कमलारम्भारामाकुरबककमला ।।

वाग्भट- 4/30

इस पद्य के प्रथम पाद की आवृत्ति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद में है । अत: यह "महायमक" अलङ्कार का उदाहरण है ।

इदानीं तेनैव प्रकारेण पदयमकोदाहरणानि । तत्र

संयुतावृत्तौ आदिपदयमक माह

हारीतहारी ततमेष धत्ते सेवालसेवालसहंसमम्भ: ।

जम्बालज बालमलं दधान मन्दारमन्दारववायुरद्रि: ।।

वाग्भट - 4/31

इस श्लोक में आदि पद "हारीत" की निर्विघ्न आवृत्ति से "संयुतावृत्तिमूलक आदिपदयमक" अलङ्कार है ।

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्रीरभ्रा सबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूय: ।

प्राप्तस्तदाजभाराम्भाराजि तत्र कुलेन चारु जादे जादेकनाप: ।।

वाग्भट - 4/32

इस श्लोक में "नयनो","जादे" और "विभ वो" आदि मध्य पदों की व्यवधान रहित आवृत्ति से "संयुतावृत्तिमूलक मध्यमपदयमक" है ।

अन्तयमकमाह

यदुपान्तिकेषु सरलाः सरला यदनुस्खलन्ति हरिणा हरिणा ।

तदिदं विभाति कमलं कमलं मुदमेत्य यत्र परमाप रमा ।। 4/33 वाग्भट

यहाँ पर "सरला", "हरिणा" और "परमा" अन्त पदों की आवृत्ति से "संयुता-वृत्तिमूलक अन्तपदयमक" अलङ्कार है ।

आदियमकमाह

कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां तारवाचं क्षमते स्म सोढुम् ।

कान्ता रतेशोऽध्वनि वर्तमान कान्तारविन्दस्य मधोः प्रवेशे ।।

वाग्भट - 4/34

इस श्लोक के चारों पादों के आदि में "कान्तार" पद की आवृत्ति है और ये सभी पद एक दूसरे से दूर हैं । अतः यहाँ "अयुतावृत्तिमूलक आदि पदयमक" है ।

मध्ययमकमाह

चकार साहसं युद्धे धृतोल्लासा हस वधा ।

दैन्यं त्वां साह सम्प्राप्ता द्विषां सोत्साह सन्ततिः ।।

वाग्भट - 4/35

इस श्लोक के प्रत्येक चरण के मध्य में रहने वाले पृथक्-पृथक् "साहसं" पद की पुन-रावृत्ति होने से "अयुतावृत्तिमूलक मध्यमपदयमक" अलङ्कार है ।

अन्तयमकमाह

गिरां श्रूयते कोकिला कोविदाऽरं यतस्तद्वन विस्फुरत्कोविदारकम् ।

मुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं न च व्याधचक्रं कुतोऽको विदारम् ।।

वाग्भट - 4/36

चरण के अन्त में आने वाले "विदार" पद की पुनरावृत्ति होने से यहाँ पर "अयुतावृत्तिमूलक अन्तपदयमक" अलङ्कार है ।

पादद्वयेऽपि आदिमध्ययमक्यान्तयमकान्युदाह्रियन्ते

सिन्धुरोचितलताग्रसल्लकी सिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः ।

कन्दराजितमदस्तटं गिरेः कन्दराजितगुहाश्रि गीयते ।।

वाग्भट - 4/37

"सिन्धुरोचित" और "कन्दराजित" पद्यार्द्धगत पदों की दूर-दूर आवृत्ति होने से यहाँ पर "अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्द्धगतपदयमक" अलङ्कार है ।

पादद्वयमध्ययमकं यथा

वसन्सरोगोऽत्र जनो न कश्चित्परं सरोगो यदि राजहंसः ।

गीतं कलं को न करोति सिद्धः शैले कलङ्कोज्झितकाननेऽस्मिन् ।।

वाग्भट - 4/38

इस श्लोक के प्रथम दो चरणों में मध्यगतपद "सरोग" की आवृत्ति है और बाद के दो चरणों में "कलङ्क" पद की । ये पद आवृत्त पदों से दूर हैं । अतः इसमें "अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्धभागभिन्नपादमध्यगतपदयमक" अलङ्कार है ।

पादद्वयान्त्ययमकं यथा-

जहुर्वसन्ते सरसीं न वारणा बभुः पिकानां मधुरा नवा रणाः ।
रस न का मोहनकोविदारकं विलोकयन्ती बकुलान्विदारकम् ।

वाग्भट - 4/39

पूर्वार्द्धगत "नवारणा" और उत्तरार्द्धगत "विदारकम्" अन्तगत पदों की आवृत्ति से यहाँ "अयुतावृत्तिमूलक प्रत्यर्धभागभिन्नपादान्तगतपद यमक" अलङ्कार है ।

आद्यन्तयमकं यथा-

वरणाः प्रसूननिकरावरणा मलिनां वहन्ति पटलीमलिनाम् ।
तरवः सदात्र शिखिजातरवः सरसश्च भाति निकटे सरसः ।।

वाग्भट - 4/40

"वरणाः", "मलिनां", "तरवः"; और "सरसः" पद इस श्लोक के क्रमशः प्रत्येक पद के आदि और अन्त में प्रयुक्त हुए हैं । अतः यहाँ पर "अयुतावृत्तिमूलक प्रतिपादगत आद्यन्तपद यमक" अलङ्कार है ।

द्वितीयपाद चतुर्थपादान्तयमकमाह

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभवः स्यान्महत्तम. ।
तथा तथास्य जायेत स्पर्धयेव महत्तमः ।।

वाग्भट - 4/41

इस पद्य के दोनों चरणों के अन्त में "महत्तमः" पद की आवृत्ति है । अतः यहाँ "अयुतावृत्तिमूलक पद्यार्द्धान्त्यभागगतपदयमक" अलङ्कार है ।

संयुतासंयुतावृत्तौ यमकमाह

दास्यति दास्यतिकोपादास्यति सति कर्करा-शापम् ।

भवति भवति ह्यनर्थो भव तिमितस्तेन बटुक त्वम् ।।

वाग्भट - 4/42

इस श्लोक में "दास्यति" और "भवति" पद की क्रमश: आवृत्ति हुई है । इसके अतिरिक्त प्रथम पाद में "कोप" शब्द से व्यवच्छिन्न "दास्यति" और द्वितीय पाद में "ह्यनर्थो" शब्द से व्यवच्छिन्न "भवति" शब्द की आवृत्ति हुई है । अत: यहाँ पर एक ही पद्य में "संयुतावृत्तिमूलक और अयुतावृत्तिमूलक पाद के आदि में पदयमक" का उदाहरण है ।

कुलं तिमिभयादत्र करेणूनां न दीव्यति ।

न दीव्यति करेणूनां प्राणिनां गणनापि का ।।

वाग्भट - 4/43

यहाँ पर द्वितीय पादगत "न दीव्यति" और "करेणूनां" पदों की आवृत्ति तृतीय पाद में भी हुई है । अत: "संयुतावृत्तिमूलक पादमध्यगत पदयमक" अलङ्कार है ।

इदानीं वर्णावृत्तिरुदाह्रियते

गङ्गाम्भःकलाङ्गाभो मुमुक्षयान्ततत्पर: ।

पाप [illegible] स्तु स सज्ञानो जिन: सताम् ।।

वाग्भट - 4/44

इस श्लोक में "गां गां", "मुमु" और "स स" वर्णों की आवृत्ति से "वर्ण यमक" अलङ्कार माना है ।

असंयुतावृत्तौ वर्णयमकमाह

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोः परिघः ।

जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ।।

वाग्भट - 4/45

यहाँ पर चारों पादों में "ज" वर्ण की आवृत्ति दूर दूर होने से "अयुतावृत्तिमूलक वर्णयमक" अलङ्कार है ।

संयुतासंयुतावृत्तिर्यथा

मामाकारयते रामा सा सा मुदितमानसा ।

या या मदाम्बुच्छाया नानाहेलामयानना ।।

वाग्भट - 4/46

यहाँ पर "मा" "सा" "या" और "ना" वर्णों की आवृत्ति पास पास और दूर-दूर होने से "संयुत" और "अयुत" दोनों प्रकार के "वर्णयमक" का उदाहरण है ।

प्रायः सभी आचार्यों ने यमक अलङ्कार को शब्दालङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार किया है । आचार्य भरत ने यमक को "शब्दाभ्यास" मात्र स्वीकार किया है[1] तथा यमक के दस भेदों का वर्णन छन्द में अक्षरों की स्थिति के आधार पर किया है । यमक के 10 भेद है- पादान्त, कांचीय, समुद्ग, विक्रान्त, चक्रवाल,

---

1. शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।

भरत - नाट्यशास्त्र - 16/62

संदष्ट,पादादि,आम्रेडित,चतुर्व्यवसित तथा माला । आचार्य भामह के अनुसार "सुनने में समान परन्तु अर्थों में परस्पर भिन्न वर्णों की आवृत्ति यमक अलङ्•कार है।[1]" भामह ने यमक के पाँच भेद को माना है -
आदि यमक, मध्यान्त यमक, पादाभ्यास, आवली तथा समस्तपाद । आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में यमक का निरूपण इस प्रकार से स्वीकार किया, "स्वर-सहित व्यंजनों की आवृत्ति यमक है[2]। दण्डी ने यमक का लक्षण काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद पुनः इसी प्रकार किया है, वर्ण संहति की आवृत्ति व्यवधान रहित हो अथवा व्यवधान सहित[3]। दण्डी ने यमक के तीन सौ पन्द्रह भेद किये है, जिसका कारण अव्यपेत, व्यपेत तथा व्यपताव्यपेत है । आचार्य वामन ने स्थान नियम के रहने पर अनेकार्थ पद अथवा अक्षर की आवृत्ति को यमक अलङ्•कार माना है[4]। रुद्रट ने "समान उच्चारण तथा क्रमवाले परस्पर भि-नार्थक

1• तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।।

भामह - काव्यालङ्•कार - 2/17

2•, आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः ।। 1/61 दण्डी-काव्यादर्श

3•, अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ।। 3/1 दण्डी - काव्यादर्श

4•, पदमनेकार्थमक्षरं वा वृत्तं स्थाननियमे यमकम् ।

वामन-काव्यालङ्•कार सूत्र वृत्ति- 4/1/1

वर्णों की पुनरावृत्ति को यमक अलङ्कार माना है, प्राय: छन्द ही इसका विषय है[1]।

आचार्य मम्मट के अनुसार "अर्थ" होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुन: श्रुति पुनरावृत्ति यमक अलङ्कार है[2]। चार शब्दालङ्कारों का विवेचन करने के पश्चात् अर्थालङ्कारों का निरूपण किया जा रहा है---

जाति अलङ्कार---

"जाति" अलङ्कार ही "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है। आचार्य वाग्भट ने चेतन अथवा जड़ पदार्थों के स्वभाव-कथन को "जाति" माना है, इसका दूसरा नाम "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है। यह क्षुद्र वस्तुओं और बालकों के स्वभाव में शोभा प्राप्त करते हैं[3] यथा --

बर्हिकलीबहुलकान्तिरुचो विविक्तभूर्जत्वचा रचितचारुदुकूललीला: ।
गुञ्जाफलग्रथितहारलता: सहेलं खेलन्ति खैलगतयोऽत्र वने शबर्य: ।।

वाग्भट - 4/48

---

1. तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थीनां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।।

रुद्रट - काव्यालङ्कार 3/1

2. अर्थे सत्यर्थ भिन्नानां वर्णानां सा पुन: श्रुति: यमकम् । सूत्र ।।6

मम्मट - काव्यप्रकाश

3. स्वभावोक्ति: पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।
जातिविशेषतो रम्या हीनवस्तार्भकादिषु ।।

वाग्भट - 4/47

यहाँ निम्न जाति भीलनियों के स्वभाव का वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्•कार है ।

अक्रियोदाहरणमाह

आरक्तनेत्रश्रेणिभीषण वदनोत्करो कुरङ्•गाक्षि ।

उल्लसितविंशतिभुजवनविक्लेशो दशमुख एषः ।।

वाग्भट - 4/49

इसमें रावण के स्वभाव कथन से स्वभावोक्ति अलङ्•कार है ।

आचार्य भामह ने स्वभावोक्ति को अलङ्•कार नहीं माना, लेकिन आचार्य दण्डी इसे प्रथम वर्णनीय अलङ्•कार स्वीकार करते हैं । दण्डी के अनुसार पदार्थों के अनेक अवस्थाओं में प्रकटित रूप का साक्षात् दर्शन कराने वाली अलङ्•कृति स्वभावोक्ति अलङ्•कार है[1] । नानावस्थाओं से अभिप्राय जाति-गुण-क्रिया द्रव्यगत अवस्थाओं से है[2] । आचार्य रुद्रट के अनुसार "जाति" का लक्षण है- "जिस पदार्थ का संस्थान, अवस्थान क्रिया आदि जिस स्वरूप का होता है, लोक में

---

1. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षात् विवृण्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्•कृतिर्यथा ।।

दण्डी - काव्यादर्श - 2/8

2. जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य स्वभावाख्यानमीदृशम् ।

दण्डी - काव्यादर्श - 2/13

रूद्र उसका उसी रूप में कथन "जाति" अलङ्कार है[1]। आचार्य मम्मट ने बालकादि की स्वभाविक क्रिया अथवा रूप, वर्ण एवं अवयवसंस्थान के वर्णन को स्वभावोक्ति अलङ्कार माना है[2]।

उपमा अलङ्कार

जहाँ "वति" आदि प्रत्यय "इव" आदि अव्यय, "तुल्य" आदि शब्द और "कर्मधारय" आदि समासों के प्रयोग से अप्रस्तुत "उपमान" के साथ प्रस्तुत "उपमेय" में सादृश्य की प्रतीत होती है, वहाँ आचार्य वाग्भट ने उपमालङ्कार माना है[3]। उपमा अलङ्कार के चार प्रमुख अङ्ग हैं -- "उपमेय", "उपमान", "उपमावाचक शब्द" और "समानधर्म"। उपमा में इन चार अङ्गों की उपस्थिति "पूर्णोपमा" है तथा इनमें से एक अथवा एक से अधिक अङ्गों का लोप "लुप्तोपमा" है।

---

1. संस्थानावस्थान क्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥

रुद्रट - काव्यालङ्कार - 7/30

2. स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥

मम्मट - काव्यप्रकाश - 10/111

3. उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।
प्रत्यायाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥

वाग्भट - 4/50

उदाहरण-

> गत्या विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायते,
>
> यस्याः पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत्स दैवाननम् ।
>
> यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया,
>
> तां कुन्दाईदतीं त्यजन्जिनपती राजीमतीं पातुवः ।।

वाग्भट - 4/51

इस श्लोक के प्रथम चरण में राजीमती उपमेय, राजहंस उपमान, मंदगति समान धर्म और "हंसायते" में जो क्यड्• प्रत्यय है, यह उपमावाचक शब्द है क्योंकि "इवार्थेक्यड्• प्रत्ययः" से "इव" शब्द की प्रतीती होती है । अतः प्रथम चरण में "पूर्णोपमा" है । दूसरे चरण मे राजीमती का मुख उपमेय चन्द्रमण्डल उपमान, "इव" उपमावाचक शब्द और "श्रीमत्" समान धर्म है । अतः द्वितीय चरण में भी पूर्णोपमा है । किन्तु तृतीय और चतुर्थ चरण में लुप्तोपमा है, क्योंकि तृतीय चरण में राजमती के नेत्रयुगल उपमेय नीलकमल उपमान' और कान्ति 'समान धर्म' है किन्तु 'उपमावाचक' शब्द के अभाव में यहाँ 'लुप्तोपमा' है । चतुर्थ चरण के अन्तर्गत राजीमती के दाँत उपमेय' और कुन्दकली उपमान है । अतः यहाँ उपमावाचक शब्द 'और 'समान धर्म के अभाव में लुप्तोपमा है ।

<u>प्रतीयमानोदाहरणं यथा-</u>

> चन्द्रवद्वदनं तस्या नेत्रे नीलोत्पले इव ।।
>
> पक्वबिम्बं हसत्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवौ ।।

वाग्भट 4/52

इस पद्य के पथम दो चरणों में "समान धर्म" का अभाव है तथा अन्तिम दो चरणों में "उपमा-वाचक शब्द" और "समानधर्म" के अभाव के कारण "लुप्तोपमा" है ।

मभरितमानसस्यापि नित्यं दोषाकरस्य शशिन इव ।

तव विरहे तस्या मुखं संकुचितं शुभ्रा कुमुदं च ।।

वाग्भट - 4/53

इस श्लोक में पूर्णोपमा की उपस्थिति है, क्योंकि नायिका का मुख उपमेय, कुमुदिनी उपमान, इव उपमावाचक शब्द तथा संकुचित होना समान धर्म है ।

<u>अन्योन्योपमालङ्कार भाव</u>

तं नमत वीतरागं जिनेन्द्रमुद्दलितदृढतरकषायम् ।

यस्य मन इव शरीरं मनः शरीरमिव सुप्रसन्नम् ।।

वाग्भट - 4/54

यहाँ मन और शरीर में अन्योन्य उपमेयोपमान सम्बन्ध होने के कारण "अन्योन्योपमा" अलङ्कार माना है ।।

क्रियाभेदानामन्योपमालङ्कारो यथा-

ये देव भक्तः पादौ [illegible] श्रिताः ।

तेलभन्तेऽद्भुतां भव्याः श्रियं त एवं शाश्वतीम् ।।

वाग्भट - 4/55

इस श्लोक में चरणों की उपमा से चरणों और आश्रितों की उपमा आश्रितों से किया है । अतः यहाँ पर "अनन्वय" अलङ्कार की उपस्थिति है ।

साहित्यदर्पण के अनुसार अनन्वय का लक्षण है--"उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः"

उपमेयप्रचुरोपमालङ्कारमाह

आलोकनं च वचनं च निगूहनं यासां

स्मरन्नमृतवत्सरसं कृशस्त्वम् ।।

तासां किमङ्ग पिशितास्रपुरीषपात्रं गात्रं विचिन्त्य

सुदृशां न निराकुलोऽसि ।।

वाग्भट – 4/56

इस श्लोक में तीन उपमेय हैं– दर्शन, वचन, और आलिङ्गन तथा उपमान है "अमृत" अतः "समुच्च" नामक अलङ्कार है ।

उपमानप्रचुरोपमालङ्कार माह

कलेव चन्द्रस्य कलङ्कमुक्ता मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना ।

जगत्त्रयस्याभिमतं ददाना जैनेश्वरी कल्पलतेव मूर्तिः ।।

वाग्भट – 4/57

यहाँ ऋषभदेव की मूर्ति उपमेय तथा चन्द्रमा की कला, माला और कल्पलता, तीन उपमान हैं । अतः इसमें "मालोपमा" अलङ्कार है । मालोपमा में उपमेय एक और उपमान अनेक होते हैं । साहित्य दर्पण के अनुसार मालोपमा का लक्षण है— "मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

आचार्य वाग्भट ने उपमालङ्कार का विवेचन करने के पश्चात् उपमा के दोषों का निरूपण उदाहरणोपन्यासपूर्वक प्रस्तुत किया है । वाग्भट के अनुसार उपमान एवं उपमेय का लिङ्गभेद, वचन भेद, उपमान का हीन होना अथवा उपमान का आधिक्य ये चार उपमा अलङ्कार के दोष हैं । यहाँ पर इन्होंने

लिङ्ग•भेद को कुछ स्थानों पर दोष न मानने का भी उल्लेख किया है। इस बात को इन्होंने अन्य आचार्यों का अभिमत बताया है।

उदाहरण माह—

हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाच. ।

इक्ष्वाकु•स्येव च दाक्ष्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ।।

वाग्भट-4/59

हिममिव कीर्तिधवला इस अंश में लिङ्ग•भेद नामक उपमा दोष प्रस्तुत किया गया है, इसका अभिप्राय है " हे कृष्ण तुम्हारी कीर्ति हिम के समान स्वच्छ या शुभ्र है।" यहाँ पर "कीर्ति" उपमेय है तथा स्त्रीलिङ्ग• है, जबकि "हिममिव" यह उपमान नपुसङ्क•लिङ्ग• में प्रयुक्त है। अत. उपमान और उपमेय में स्पष्ट रूप से लिंङ्ग•भेद प्रस्तुत होने से यह "लिङ्ग• भेद" नामक उपमादोष का स्थल है।

"चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाच:" इस अंश में आचार्य वाग्भट ने "वचन-भेद" नामक उपमादोष को प्रस्तुत किया है, इसका अभिप्राय है वाणी चन्द्रकला के समान अत्यधिक निर्मल है। यहाँ पर वाणी उपमेय है एवं बहुवचन में प्रयुक्त है, जबकि उपमानभूत चन्द्रकला शब्द एक वचन में प्रयुक्त है। अत: यह "वच-भेद" नामक - उपमा दोष का उपयुक्त उदाहरण है इसके अनन्तर आचार्य वाग्भट ने "उपमा-हीनता" से होने वाले दोष का उदाहरण प्रस्तुत किया है—"इक्ष्वाकु•स्येव च दाक्ष्यम्" अर्थात्

विभिन्नलिङ्ग•वचनां नातिहीनाधिकां च ताम् ।

निबध्नन्ति बुधा: क्वापि लिङ्ग•भेद तु मेनिरे ।।

वाग्भट - 4/58

तुम्हारी दक्षता कौवे के समान है । यहाँ पर उपमानभूत ध्वाङ्क्ष {कौवा} उपमेय रूप राजा की चातुरी से अत्यधिक हीन बताया गया है । अतः यह उपमान की हीनता नामक उपमा दोष का उचित उदाहरण है ।

चतुर्थ उपमा दोष के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित अंश प्रस्तुत किया गया है- "नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ।" अर्थात् तुम्हारा वक्षस्थल आकाश के समान फैला हुआ है । यहाँ पर "वक्षस्थल उपमेय है, एवं "नभ" उपमान है । "वक्ष" की अपेक्षा उपमाभूत "नभ" को अत्यधिक विशाल बताने के कारण उपमान की अधिकता का उपमादोष है ।

शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।

खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ।।

वाग्भट - 4/60

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में उपमेयभूत कुक्कुरी से उपमान भूत गृहदेवी श्रेष्ठ है और उत्तरार्द्ध में उपमेयरूप प्रताप से उपमानरूप खद्योत हीन है ।

अथ हीनविशेषोरूपमेयोपमामुपमानोपमामाह

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धिः शार्ङ्गीव शङ्खभृत् ।

श्च्योतन्मदः करी वर्षन्विद्युत्वानिव वारिदः ।।

वाग्भट - 4/61.

श्लोक के पूर्वार्द्ध में "समुद्र" उपमेय है तथा "विष्णु भगवान" उपमान यहाँ पर "समुद्र" अर्थात् उपमेय के लिए अधिक विशेषणों का प्रयोग किया है और "विष्णु भगवान" अर्थात् उपमान में कम विशेषण प्रयुक्त किये है । उत्तरार्द्ध में "हाथी" उपमेय है और "मेघ" उपमान, किन्तु यहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान में अधिक विशेषणों का प्रयोग है ।

अपि लिङ्गभेदं च मेनिरे कवय इत्याह

मुखं चन्द्रमिवालोक्य देवाह्लादकरं तव ।

कुमुदन्ति मुदाक्षीणि क्षीणभित्यात्वलम्यदाम् ।।

वाग्भट - 4/62

यहाँ पर उपमेयरूप "नेत्र" और उपमानरूप "कुमुदिनी" में लिङ्गभेद है ।

अथ समासगतस्योपमेयोपमालिङ्गभेदमाह

निजजीवितेशकरजाग्रक्षतपङ्क्तय. शुशुभिरे सुरते ।

कुपितस्मरप्रहितबाणव्रण जर्जरा इव सरोजदृश. ।।

वाग्भट - 4/63

यहाँ प्राणेश के नरक्षत की पंक्तियाँ स्त्रीलिङ्ग "उपमेय" हैं किन्तु उनका "उपमान" कामदेव के बाण से जर्जरित शरीर पुल्लिंग है । अत: उपमेय और उपमान में लिङ्ग-भेद होने पर भी दोष नहीं नाना है, क्योंकि यहाँ समस्तपद है ।

"उपमा" शब्द का प्रयोग तो ऋग्वेद[1] में प्राप्त होता है, किन्तु अलङ्कार रूप में इसका शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम आचार्य गार्ग्य ने किया है । उपमा अलङ्कार को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है ।

---

1. त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वत: ।
   स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिव ।। 1,31,15

   सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्य: ।
   तस्मा आप: संयत: पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु ।।

   ऋग्वेद 5,34,9

आचार्य भरत ने "नाट्यशास्त्र" के सोलहवें अध्याय में चार अलङ्•कारों का वर्णन किया है, उनमें प्रथम अलङ्•कार "उपमा" है । भरत के अनुसार "काव्य-बन्धों में सादृश्य के द्वारा जो तुलना की जाती है, वह "गुणाकृतिसमाश्रया" उपमा है[1] ।
"गुणाकृतिसमाश्रया" से तात्पर्य है, कि उपमा में सादृश्य का आश्रय "गुण" तथा "आकृति" है । "मतंगजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वता:" । इस उदाहरण में मतंगजों और पर्वतों में "आकृति-सादृश्य" के साथ-साथ जंगमत्व-रूपी "गुण-सादृश्य" भी उपस्थित है । उपमा के चार रूप इस प्रकार से हैं-- एक की एक के साथ, एक की अनेक के साथ, अनेक की एक के साथ, अनेक की अनेक के साथ उपमा को "तुलना" माना है[2] ।

नाट्यशास्त्र में "उपमा वाचक" शब्दों पर विचार नहीं किया गया और नही उपमा के भेद निश्चय करने में "वाचकों" का कोई महत्व है । आचार्य भामह के अनुसार, देश, काल, क्रिया आदि के द्वारा "उपमेय" से भिन्न "उपमान" के साथ उपमेय का गुणलेश से जो साम्य है, वह उपमा अलङ्•कार है[3] ।

---

1. यत्किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
   उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ।। भरत-नाट्यशास्त्र 16/41
2. एकस्यैकेन सा कार्या ह्यनेकेनाथवा पुन: ।
   अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ।। भरत-नाट्यशास्त्र - 16/42
3. विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभि: ।
   उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ।। भामह-काव्यालङ्•कार - 2/30

आचार्य-भामह ने लक्षण के साथ ही उपमा दोषों पर विचार किया, जो इस प्रकार से हैं— हीनता, असंभव, लिङ्ग-भेद, वचन भेद, विपर्यय, उपमान का आधिक्य और उपमान का असादृश्य[1]। आचार्य दण्डी ने दो पदार्थों के बीच "सादृश्य" की की प्रतीति को उपमालङ्कार माना है[2]। दण्डी ने उपमा के लक्षण में उपमेय, उपमान, तुल्यधर्म तथा वाचक पदों का उल्लेख नहीं किया। उपमा को आचार्य मम्मट ने "काव्यप्रकाश" के दशम उल्लास में प्रथम अर्थालङ्कार माना है। मम्मट के अनुसार उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा अलङ्कार है[3]। उपमा के दो भेद हैं— "पूर्णा" तथा "लुप्ता"। पूर्णा के दो उपभेद "श्रौती" तथा "आर्थी" है। ये दोनों उपभेद भी "वाक्यगत", "समासगत" तथा "तद्धितगत" है, इस प्रकार पूर्णोपमा के छह भेद मम्मट ने स्वीकार किये हैं।

---

1. हीनताऽसम्भवौ लिङ्ग-वचोभेदो विपर्ययः।
   उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च ॥

   भामह- काव्यालङ्कार - 2/39

2. यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।
   उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते ॥

   दण्डी-काव्यादर्श - 2/14

3. साधर्म्यमुपमा भेदे।

   मम्मट - काव्यप्रकाश 10/124

रूपक अलङ्•कार

जहाँ धर्म-साम्य के कारण उपमेय और उपमान में भेद न हो वहाँ रूपक अलङ्•कार है । उपमेय और उपमान के "अभेद" अर्थात् भेद के न रहने पर एक का आरोप दूसरे पर किया जाता है 1 तो उसे रूपक अलङ्•कार वाग्भट ने स्वीकार किया है, और रूपक के चार भेद माने हैं-- [1] समासयुक्त [2] समास-रहित [3] अपूर्ण [4] पूर्ण । अपूर्ण को निरङ्ग• तथा पूर्ण को साङ्ग•रूपक स्वीकार किया है । इसका यथा क्रम उदाहरण निम्न प्रकार से किया है--

कीर्णान्धकारालकशालमाना निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।

निशापिशाची व्यचरद्दधानामहान्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ।।

वाग्भट 4/65

इस श्लोक में उपमेय भूत "रात्रि" का उपमान भूत "पिशाची" से साधर्म्य है, यहाँ इसका सम्यक् रूप से वर्णन किया है और निशापिशाची" एक समस्त पद भी है, इसलिए यह समस्त पूर्णरूपक का उदाहरण है ।

असमस्तं पृथग्विभक्त्या ज्ञेयम् । यथा--

संसार एव कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि

इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ।।   वाग्भट - 4/66

---

1. रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत् ।

समस्तं वासमस्तं वा खण्डं वाखण्डमेव वा ।।

वाग्भट - 4/64

इस श्लोक में संसार, विपत्ति, जन्म, दुःख और धर्म – ये उपमेय है और कूप, जल तथा रस्सी उपमान है । अतः यहाँ कोई पद समस्त न होने के कारण "असमस्त पूर्ण" रूपक अलङ्कार है ।

एतत्समस्तासमस्तमुभयमपि द्विधा खण्डमखण्डं च । तदेवाह—

अधरं मुखेन नयनेन रुचिं सुरभित्वमाब्जमिव नासिकया ।

नववर्णिनीवदन चन्द्रमसस्तस्या रसेन युगपन्मिमपुः ।

वाग्भट – 4/67

यहाँ पर उपमेय रूप नवोढा के मुख और उपमान रूप चन्द्रमा के सभी धर्मों में साम्य न होने के कारण निरङ्गरूपक है और "नवकामिनीवदनचन्द्रमसः" यह समस्त पद है । अतः यहाँ "समस्तखण्डरूपक" अलङ्कार है ।

अखण्डमाह—

[illegible]या धवलीकुर्वन्भुवीं सकुलपर्वताम् ।

निशाविलासकमलमुदेति स्म निशाकरः ।।

वाग्भट – 4/68

यहाँ पर "निशाकर" उपमेय है और "निशाविलासकमल" उपमान । इन दोनों अर्थात् उपमेय और उपमान में "लिङ्गभेद" है, इनमें सभी धर्मों को समान रूप से वर्णित नहीं किया तथा उपमेय और उपमान में समास न होने के कारण यह "असमस्तखण्डरूपक" अलङ्कार है ।

अथ रूप के लिङ्गभेदं दर्शयति—

हस्ताग्रविन्यस्तकपोलदेशा मिथो मिलत्कङ्कणकुण्डलश्रीः ।

सिषेव नत्रस्रव श्रवारा दोः कन्दलीं काचिदवश्यनाथा ।।

यहाँ "दो:" और "कन्दलीं" में लिङ्ग भेद है तथा ये दोनों समस्त पद हैं, किन्तु इनके समान धर्मों का सम्यक् रूप से वर्णन नहीं किया है । अतः यहाँ "समस्तखण्ड-रूपक" माना है ।

रूपक अलङ्कार को प्रायः सभी आचार्यों ने आर्थालङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार किया है । आचार्य भरत ने रूपक अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए नाट्यशास्त्र में उपमा के ठीक बाद ही इसका विवेचन किया है ।
आचार्य भरत ने "उपमा" को भेदाभेद प्रधान अलङ्कार माना है तथा "रूपक" को अभेद प्रधान । भरत ने उपमा और रूपक के अन्तर में तीन विशेषताओं को स्वीकार किया है— ॥1॥ उपमा का आधार "सादृश्य" है तथा रूपक का "औपम्य" ।
"औपम्य" "किंचित्सादृश्य" द्वारा सम्पन्न होता है । ॥2॥ उपमा का आधार है 'गुणाकृ का सादृश्य' और रूपक का केवल "गुण" है । ॥3॥ उपमा में "आकृति" का सादृश्य है और रूपक में रूप "निर्वर्णना" अर्थात् रूपक आकृति-सादृश्य न होते हुए भी प्रस्तुत-अप्रस्तुत में रूपाभेद कल्पित करता है । इस प्रकार आचार्य भरत ने 2 श्लोक में रूपक का लक्षण किया है[1]। आचार्य भामह के अनुसार उपमान से उपमेय का जहाँ

---

1. [illegible] रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
   किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत ।।

   भरत-नाट्यशास्त्र-16/56

   [illegible] गुणाश्रयम् ।
   रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ।।

तादात्म्य गुण साम्य देखकर निरूपित किया हो वहाँ रूपक अलङ्कार है तथा इसके दो भेद हैं— ﴾1﴿ "समस्तवस्तु विषय रूपक ﴾2﴿ "एकदेशविवर्ती" रूपक[1]।

आचार्य दण्डी ने भी इसी "अभेद" मात्र को स्वीकार किया है[2]। दण्डी ने इसके उन्नीस भेदों की चर्चा क[illegible] में किया है। आचार्य वामन ने "गुणसाम्य के कारण उपमानोपमेय का "तत्वारोप" अर्थात् अभेद का आरोप रूपक अलङ्कार माना है[3]। वामन ने रूपक के भेदोपभेद का वर्णन नहीं किया। आचार्य मम्मट ने "अभेद" पर बल दिया है। मम्मट के अनुसार "उपमान" और उपमेय" का जो अभेद वर्णन है, वह रूपक अलङ्कार है[4]। मम्मट ने रूपक के 2 भेद स्वीकार किये हैं— ﴾1﴿ समस्तवस्तु विषय रूपक ﴾2﴿ एकदेशविवर्ती रूपक। अतः मम्मट ने इसके अनेक भेदोपभेद का निरूपण काव्य प्रकाश में किया है।

---

1. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्टवा रूपकं नाम तद्विदुः ।।

भामह-काव्यालङ्कार -2/21

2. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः ।।

दण्डी-काव्यदर्श- 2/66

3. उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्वारोपो रूपकम् ।।

वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 4/3/6

4. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 10/138

प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार

आचार्य वाग्भट ने प्रतिवस्तूपमा को अर्थालङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए इसका लक्षण और उदाहरण निम्न प्रकार से किया है— "जिस अलङ्कार में "इव" इत्यादि उपमा वाचक शब्दों के न रहने पर भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साम्य प्रतीत होता है उसे प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार माना है[1]।

अथ प्रतिवस्तूपमायां लिङ्गभेदं दर्शयति–

बहुवीरेऽप्यसावेको यदुवंशेऽद्भुतोऽभवत् ।

किं केतक्यां दलानि स्युः सुरभीण्यखिलान्यपि ।।

वाग्भट – 4/71

यहाँ "इव" इत्यादि उपमावाचक शब्द के न रहने पर उपमेय भूत "यदुवंश" और उपमानभूत "केतकी" में साधर्म्य की प्रतीति होती है । अत एव यह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार का उदाहरण है ।

उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने प्रतिवस्तूपमा को स्वतंत्र अलङ्कार माना है किन्तु आचार्य भामह और दण्डी ने "प्रतिवस्तूपमा" को "उपमा" का ही भेद स्वीकार किया है । आचार्य भामह के अनुसार "जब दो वाक्यों में यथा "इव"

---

1. अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।

यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ।।

वाग्भट– 4/70

आदि शब्दों का प्रयोग न हो, तो भी समान वस्तु के कथन से गुण साम्य की प्रतीति के आधार पर प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार माना है[1]। आचार्य दण्डी ने इसी प्रकार की [illegible] का प्रयोग किया है, ये भामह के विचारों से पूर्ण सहमत है। दण्डी के अनुसार किसी प्रस्तुत को उपन्यस्त करके, उसके समान धर्म वाले किसी अन्य अप्रस्तुत वस्तु का उपस्थापन करने से, "इव" आदि शब्दों के बिना जो सादृश्य प्रतीति होती है, वह"प्रतिवस्तूपमा" का विषय है[2]। आचार्य मम्मट के विचार इन सभी आचार्यों से भिन्न है। मम्मट के अनुसार एक ही सामान्य धर्म को दो वाक्यों में, दो बार, भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है, तो वह प्रतिवस्तूपमालङ्कार है। यह 2 प्रकार का है- §1§ केवलरूप तथा §2§ मालारूप

1· समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ।।

भामह-काव्यालङ्कार - 2/34

2· वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः ।
साम्य प्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ।।

दण्डी-काव्यादर्श - 4/46

3· प्रतिवस्तूपमा तु सा ।।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश - 10/101

भ्रान्तिमान् अलङ्कार

जिस अलङ्कार के एक ही वस्तु में उसके समान अन्य वस्तु का भ्रम उपस्थित हो तो वहाँ भ्रान्तिमान अलङ्कार है[1]। वाग्भट ने इसका उदाहरण निम्न प्रकार से किया है—

उदाहरण मात्र-

हेमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ।

कुसुममिति तव हसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणि: ।।

4/73

यहाँ पर मुख, नेत्र और हास्य में क्रमश: स्वर्णकमल, नीलकमल और पुष्प की "भ्रान्ति" से यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार है । भ्रान्तिमान् अलङ्कार का वर्णन आचार्य रुद्रट ने किया तथा आचार्य मम्मट ने इसका व्यवस्थित लक्षण स्वीकार किया है । आचार्य रुद्रट के अनुसार, जहाँ विशेष अर्थ-वस्तु को देखकर उसके समान अर्थात् तत्सदृश अन्य वस्तु की सन्देह रहित प्रतीति होती है, वहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है[2]। भ्रान्तिमान् का आधार "औपम्य" है और प्राण "निस्सन्देह" यथा—

---

1. वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन: ।

निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ।।

वाग्भट - 4/72

2. अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेद् अन्यमेव तत्सदृशम् ।

नि:सन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार 8/87

पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनी: ककुभ: ।

पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसा: ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार 8/88

आचार्य मम्मट ने "रूपक" आदि से भ्रान्तिमान् अलङ्कार का स्वरूप भिन्न माना है[1]।

आक्षेप अलङ्कार

"जिस अलङ्कार में प्रतिषेध-कथन अथवा प्रतिषेध की प्रतीति हो, उसे आचार्य वाग्भट ने "आक्षेप" अलङ्कार माना है[2]। यथा

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसू[illegible]न किमहो यदि तद्द्विपेन्द्र: ।

दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रताप: स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा ।।

वाग्भट - 4/75

यहाँ पर "इन्द्रादि" प्रतिषेध कथन होने से आक्षेप" अलङ्कार है ।

---

1. भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ।।   10/132

"न चैव रूपकं प्रथमा[illegible]' । तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् । इह च अर्थानुगमनेन संज्ञाया: प्रवृत्ते:, तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात् ।।

मम्मट-काव्य प्रकाश   पृ0 543

2. उक्तिर्यत्र प्रती[illegible]तर्वा [illegible]तिषेधस्य जायते ।

आचक्षते समाक्षेपालङ्[illegible] विबुधा यथा ।।

वाग्भट - 4/74

वाग्भट ने आक्षेप के "विधिपूर्वक निषेध" और "निषेधपूर्वक विधि" इन दो उदाहरण को प्रस्तुत किया है ।

विधिपूर्वकनिषेधे उदाहरणं यथा-

[illegible] नरकक्रोडनिवासे रसिकं मनः ।

सोऽस्तुहिंसानृतस्तेयतत्परः सुतरां जनः ।।

वाग्भट - 4/76

इस श्लोक के अन्तर्गत नरक में निवास, हिंसा, असत्य और चोरी आदि प्रतिषेध कथन से "आक्षेप" अलङ्कार है ।

अथ निषेधपूर्वकविधौ प्रतीतिरकान्तस्था-

इच्छन्ति ये न कीर्तिं कुर्वन्ति करुणां क्षणमपि ये नैव ।

ते धनयक्षा इव नरा ददति धन मरणसमयेऽपि ।।

वाग्भट - 4/77

इस श्लोक में "अनावश्यक धन संचय रूप" प्रतिषेध की स्पष्ट प्रतीति होने से यहाँ "आक्षेप" अलङ्कार है ।

आचार्य भामह ने विशेषता की विवक्षा से इष्ट वस्तु का निषेध वर्णन आक्षेप अलङ्कार माना है[1] । आक्षेप के दो भेद भी करते हैं-- [1] वक्ष्यमाण

---

1. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
   आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधं यथा ।।

भामह-काव्यालङ्कार - 2/68

(2) उक्तविषय[1]। आचार्य दण्डी ने प्रतिषेध कथन को आक्षेप अलङ्कार स्वीकार किया और इसके तीन प्रकार के भेद किये है-- वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप और भविष्यदाक्षेप[2]। आचार्य मम्मट ने भामह की धारणा को स्वीकार किया अर्थात् "आक्षेप" का लक्षण और भेद भामह के अनुसार है, दोनों आचार्यों ने "विशेषाभि-धित्सा" को आक्षेप का आधार माना है[3]। इसके 2 प्रकार के भेद माने हैं- (1) वक्ष्यमाणविषय तथा (2) उक्तविषय।

---

1. वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राक्षेपो द्विधा मतः।

भामह-काव्यालङ्कार- 2/67

2. प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता ।।

दण्डी-काव्यादर्श- 1/120

3. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।।

मम्मट - काव्यप्रकाश - 10/106

संशय अलङ्कार

इस अलङ्कार के लिए तीन नाम प्रचलित हैं—"ससन्देह", "सन्देह", तथा संशय । "जिस अलङ्कार में धर्म साम्य के कारण जब "संशय" की उद्भावना होती है, तो उसे वाग्भट ने संशय नामक अलङ्कार माना है । लेकिन जब संशय का समाधान पर्याप्त कारणों से होता है, तो उसे "निश्चय" अलङ्कार मानते हैं[1] ।

उदाहरणमाह-

किं केशपाशः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः किं वा प्रतापानलधूम एषः ।

दृष्टवा [illegible]गतं कृपाणमेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ।।

वाग्भट 4/79

प्रस्तुत श्लोक में कृपाण के लिये "केशराशि" और "प्रतापाग्निधूम्र" के संदेह से "संशय" नामक अलङ्कार है ।

संशयनिश्चयालङ्कारोदाहरणमाह-

इन्दुः स एष यदि किं न सकलङ्कता[illegible] लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।

आः स्यन्दनवजधृतोद्धुरताम्रचूडः श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ।।

वाग्भट - 4/80

1• इदमेतदिदं वेति साम्याद्बुद्धिर्हि संशयः ।

हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ।।

वाग्भट- 4/78

इस श्लोक में राजा जयसिंह को देखकर "इन्द्र" और "विष्णु भगवान" का संदेह किया जा रहा है, किन्तु रथ में लगी ध्वजा से यह निश्चित हो गया है, कि राजा जयसिंह ही हैं। अतः यहाँ "निश्चित" अलङ्कार माना है।

यह "संशय" नाम आचार्य रुद्रट द्वारा दिया गया है तथा इसके प्रथम आचार्य भामह हैं। आचार्य दण्डी ने इसका अन्तर्भाव "संशयोपमा" में किया है[1]। भामह[2] तथा वामन[3] ने इसे "ससन्देह" तथा "सन्देह" के नाम से पृथक अलङ्कार माना है। आचार्य दण्डी भी इसके "ससन्देह" रूप में स्वतंत्र अलङ्कार होने का संकेत किया है[4]। आचार्य मम्मट ने उपमानोपमेय का भेद कथन करते हुए दो प्रकार के "सन्देह" माने हैं— (1) "निश्चयगर्भ" (2) "निश्चयान्त"[5]।

---

1. किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
   मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा॥

   दण्डी-काव्यादर्श- 2/26

2. उपमान तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
   ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥

   भामह-काव्यालङ्कार- 3/34

3. उपमानोपमेयसंशयः सन्देह।

   वामन-काव्यालङ्कार- 4/3/11

4. अनन्वयससंदेहावुपमास्वेव दर्शितौ।
   उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम्॥

   दण्डी-काव्यादर्श-2/358

5. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः॥ 10/92
   भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः।

   मम्मट-काव्यप्रकाश पृ० 463

दृष्टान्त अलङ्कार

"जिस अलङ्कार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के क्रिया-गुण-चेष्टादि" सम्बन्ध से यथातथ्य वर्णन की उपस्थिति हो, वाग्भट ने उसे "दृष्टान्त" अलङ्कार माना है[1]।

उदाहरणमाह-

पतितानां संसर्गं त्यजन्ति दूरेण निर्मला गुणिनः ।

इति कथयन्-जरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम्

वाग्भट - 4/82

यहाँ पर पतितजनों के साथ सज्जनों के संसर्ग को अशोभित स्वीकार करने के लिए, वृद्धा स्त्री के शिथिल स्तनों पर लटकते हुए हार का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है । अतः यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है ।

"दृष्टान्त" अथवा" "काव्यदृष्टान्त" की कल्पना आचार्य उद्भट ने किया है । "बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव" एवं "उपमासूचक पदों का अभाव इसकी दो विशेषताएँ

1• अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः ।

दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ।।

वाग्भट - 4/81

है[1]। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे "दृष्टान्त" स्वीकार किया है। आचार्य रुद्रट के अनुसार, प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत अर्थों में जिस प्रकार का अर्थ पूर्वस्थित हो, पुनः उसी के सदृश वक्ता किसी अन्य तत्व का उपस्थापन करता है, तो वहाँ दृष्टान्त" अलङ्कार होता है[2]। आचार्य मम्मट के अनुसार "उपमान, उपमेय उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि इन सभी का {भिन्न होते हुए भी औपम्य के प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेय वाक्य में पृथगुपादानम्} बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव होने पर दृष्टान्तअलङ्कार है। दृष्टान्त को "साधर्म्य" से माना है और "वैधर्म्य" से भी[3]।

---

1. इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टप्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
   यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥

   उद्भट-काव्यालङ्कार सार संग्रह- 6/8

2. अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
   तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥

   रुद्रट-काव्यालङ्कार - 8/94

3. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥

   मम्मट-काव्यप्रकाश - 10/102

व्यतिरेक अलङ्कार

जिस अलङ्कार में उपमेय और उपमान में से किसी एक को धर्म विशेष के कारण दूसरे से उत्कृष्टतर प्रस्तुत किया जाता है, उसे वाग्भट ने व्यतिरेक अलङ्कार माना है[1]।

उदाहरणमाह-

अस्त्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेव पृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च समानभाव: ।

किं त्वेक: प्रतिभटा: समरं विहाय सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमाना: ।।

वाग्भट - 4/84

प्रस्तुत श्लोक में "उपमेय भूत" राजाजयसिंह को "उपमान भूत" सिंह से अधिक पराक्रमशाली माना गया है । अत: यहाँ "व्यतिरेक" अलङ्कार है ।

आचार्य भामह ने "उपमेयोत्कर्ष" में व्यतिरेक अलङ्कार को स्वीकार किया है[2]। आचार्य उद्भट ने उपमानोपमेय के विशेषापादन को "व्यतिरेक" मानते है[3]।

---

1. केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयो: संसिद्धसाम्ययो: ।

भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेक: स उच्यते ।।

वाग्भट - 4/83

2. उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम् ।

व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा ।।

भामह-काव्यालङ्कार-2/75

3. विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययो: ।

निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा हि स: ।।

उद्भट-काव्यालङ्कार सार संग्रह 2/6

उद्भट इसके 3 भेद करते हैं— §1§ उपात्तनिमित्त विशेषापादन, §2§ अनुपात्तनि-मित्त विशेषापादन §3§ वैधर्म्येण दृष्टान्त । आचार्य रूद्रट ने दोनों स्थितियों में व्यतिरेक अलङ्कार की उपस्थिति तथा इसको 3 तीन प्रकार से मानते हैं[1]।

आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक के सबसे अधिक 24 भेदों का उल्लेख किया है, तथा "उपमान" से "उपमेय" के आधिक्य वर्णन को व्यतिरेक अलङ्कार माना है[2]। मम्मट इस मत से सहमत नहीं है कि "उपमेय" से उपमान के आधिक्य में भी व्यतिरेक हो सकता है । यथा-

क्षीण: क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।

विरम प्रसीद सुन्दरि । यौवनमनिवर्ति यातं तु ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश-10/463

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तम्, तदयुक्तम् । अत्र यौवन गतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् । यह रूद्रट के मत का खण्डन है ।

---

1. यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।

व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरूत: ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार-7/86

2. उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेक: स एव स: ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 10/158

अपह्नुति अलङ्कार

जहाँ दो वस्तुओं में साधर्म्य होने के कारण एक को छिपाकर कहा जाता है, कि "अमुक वस्तु यह नहीं है" अपितु "यह अन्य वस्तु है, तो वहाँ "अपह्नुति" अलङ्कार की उपस्थिति मानी जाती है[1]।

उदाहरणमाह-

नैतन्निशायां शितसुच्यभेद्यमन्धीकृतालोकनमन्धकारम् ।

निशागमप्रस्थितपंचबाणसेनासमुत्थापित एष रेणु: ।।

वाग्भट-4/86

यहाँ वास्तविक वस्तु "अन्धकार" को छिपाकर उसके समान धर्मवाली कामदेव की सेना के चलने से उठी हुई धूलराशि को माना है । अत: यह अपह्नुति अलङ्कार का उदाहरण है ।

अपह्नुति अलङ्कार का प्रथम विवेच आचार्य भामह ने किया है । भामह के अनुसार "अपह्नव" तथा "किंचिदन्तर्गतोपमा" इस सौन्दर्य के मुख्य तत्व है[2]। आचार्य दण्डी के अनुसार, किसी वस्तु रूप को छिपाकर अन्य वस्तु रूप दिखाने को

1· नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम् ।

उच्यते यत्र सादृश्यादपह्नुतिरियं यथा ।।

वाग्भट-4/85

2·अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा, भूतार्थापह्नवादस्या: क्रियते चाभिधा यथा

भामह-काव्यालङ्कार- 3/21

"आ...न्द" अलङ्कार मानते है[1]। दण्डी ने अपह्नुति-संकल्पना में औपम्य-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। आचार्य मम्मट के अनुसार, प्रकृत "उपमेय" का निषेध करके जो अन्य "उपमान" की सिद्धी की जाती है, वह "अपह्नुति" अलङ्कार है[2]। मम्मट ने "शाब्दी" एवं "आर्थी" "अपह्नुति" के 2 भेद माने हैं।

तुल्ययोगिता अलङ्कार

जिस अलङ्कार के एक ही काल में होने वाली क्रिया के द्वारा "उपमान" के साथ "उपमेय" का समभाव स्थापित किया जाता है, उसे आचार्य वाग्भट ने "तुल्ययोगिता" अलङ्कार माना है[3]।

इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है-

तमसा तुल्यमानानां लोकेऽस्मिन्साधुवर्त्मनाम् ।

प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तव च दृश्यते ।।

वाग्भट- 4/88

1• अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम् ।

न पंचेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति।।।।

दण्डी-काव्यादर्श-2/304

2• प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

मम्मट-काव्यप्रकाश 10/145

3• उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन योज्यते ।

तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ।

वाग्भट-4/87

यहाँ प्रस्तुत "राजा" और अप्रस्तुत "सूर्य" को एक समय में एक ही क्रिया का अनुष्ठान करने के कारण "तुल्ययोगिता" अलङ्कार माना है ।

आचार्य भामह के अनुसार गुणसाम्य की विवक्षा से उपमेयोपमान का एक कार्य अथवा क्रिया से योग तुल्ययोगिता अलङ्कार है[1]। आचार्य भामह और दण्डी ने तुल्ययोगिता को समान रूप माना है, किन्तु दण्डी-कृत लक्षण है, "स्तुति" अथवा "निन्दा" के निमित्त प्रस्तुत के गुणों का उत्कृष्ट गुणों के साथ समीकृत्य वर्णन "तुल्ययोगिता अलङ्कार है[2]।

आचार्य उद्भट का लक्षण विकसित, वैज्ञानिक और परिपूर्ण है, तथा मम्मट के लक्षण का आधार है । उद्भट ने उपमानोपमेयभाव से शून्य उपमानों अथवा उपमेयों के साम्याभिधायी कथन को "तुल्ययोगिता" मानते हैं[3]। आचार्य मम्मट के अनुसार, प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध तुल्ययोगिता अलङ्कार है[4]।

---

1. न्यूनस्यापि विशिष्टेन, गुणसाम्यविवक्षया ।
तुल्यकार्यक्रियायोगाद्, इत्युक्ता तुल्ययोगिता ।।

भामह-काव्यालङ्कार -3/27

2. विवक्षितगुणोत्कृष्टै र्यत्समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ।।

दण्डी-काव्यादर्श-2/330

3. उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वच: ।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता ।।

उद्भट-काव्यालङ्कार-सार संग्रह-5/7

4. नियतानां सकृद्धर्म: सा पुनस्तुल्ययोगिता ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश -10/104

उत्प्रेक्षा अलङ्कार

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से "इव" इत्यादि अवयवों के द्वारा किसी अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है, तो वहाँ "उत्प्रेक्षा अलङ्कार" है[1]। वाग्भट ने इसका उदाहरण निम्न प्रकार से किया है—

"नभस्तले [illegible] व प्रविष्टारचकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहा:
जाङ्गलित्वा हसत: प्रमोदाद्भ्रान्ता इव [illegible] निशाचरस्य ।।

वाग्भट-4/90

प्रस्तुत श्लोक में "चन्द्रकिरणाङ्कुरों" की कल्पना हँसते हुए निशाचरों के दाँतों की चमक से किया है । अत: यहाँ पर "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है ।

"उत्प्रेक्षा" महत्वपूर्ण अर्थालङ्कार है । जिसका प्रथम विवेचन आचार्य भामह ने किया है । भामह के अनुसार "जिस अलङ्कार में सादृश्य विवक्षित न हो, किन्तु उपमा का कुछ पुट हो, उपमेय में जिस गुण क्रिया का रहना बताया जाय वह वस्तुत: उसमें रहता हो नहीं, तात्पर्य कि उसकी सम्भावना की जाय, साथ ही उसमें अतिशयोक्ति वर्तमान हो, उसे उत्प्रेक्षा माना है[2]। आचार्य दण्डी के अनुसार चेतन

---

1. कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा ।
द्योतितेवादिभि: शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ।।

वाग्भट- 4/89

2. अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह ।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ।।

भामह-काव्यालङ्कार - 2/91

अथवा अचेतन प्रस्तुत की अन्यथा-स्थित वृत्ति की अन्यथा संभावना "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है[1]। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्कार की परिभाषा को परिष्कृत रूप में उपस्थापित करते हुए, "प्रस्तुत" की "अप्रस्तुत" के रूप में "संभावना" माना है। रूद्रट ने "उत्प्रेक्षा" का "औपम्यमूलक" अलङ्कारों के अन्तर्गत वर्णन स्वीकार किया है[2]। आचार्य मम्मट ने "उपमेय" की "उपमान" के साथ सम्भावना को उत्प्रेक्षा अलङ्कार माना है[3]। उत्कैटककोटिक संदेह को सम्भावना कहते हैं।

---

1. अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
   अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ।।

   दण्डी-काव्यादर्श-2/221

2. अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम्।
   आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ।।

   रूद्रट-काव्यालङ्कार- 8/32

3. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।

   मम्मट-काव्यप्रकाश-10/136

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार

जिस अलङ्कार में किसी उक्ति को सिद्ध करने के लिए जब अन्य अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है, तो वहाँ "अर्थान्तरन्यास" नामक अलङ्कार है। आचार्य वाग्भट ने यह "अर्थान्तरन्यास" 2 प्रकार से स्वीकार किया – §1§ श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास §2§ अश्लिष्ट अर्थान्तरन्यास[1]। यथा—

श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास–

शोणत्वमक्ष्णामसिताब्जभासां गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः।

बभूव पानान्मधुनो वधूनामचिन्तनीयो हि सुरानुभावः॥

वाग्भट–4/92

प्रस्तुत श्लोक में "नेत्रों की लालिमा" और "वाणी के स्खलन" की उक्ति को पुष्ट करने के लिए मद्य अथवा देवताओं की दुर्भावना को प्रस्तुत किया है, तथा "सुरानुभाव" पद श्लिष्ट होने से यहाँ "श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है।

अश्लिष्ट माह–

शुण्डादण्डैः कम्पिता. कुंजराणां पुष्पोत्सर्गं पादपाश्चारु चक्रुः।

स्तब्धाकारा. किं प्रयच्छन्ति किंचित्क्रान्ता यावन्नोद्धतैर्नीतिशङ्कुम्॥

वाग्भट – 4/93

---

1. उक्तसिद्धयर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः।

कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा॥

वाग्भट–4/91.

प्रस्तुत श्लोक में पूर्वार्द्ध कथन को पुष्ट करने के लिए, उत्तरार्द्ध में दूसरा कथन किया है तथा कोई पक्ष श्लिष्ट न होने से यहाँ "अश्लिष्ट अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है ।

"अर्थान्तरन्यास" का प्रथम विवेचन आचार्य भामह ने किया है । भामह के अनुसार, उदित अर्थ के अनुगमन में किसी अन्य अर्थ का उपन्यसन अर्थान्तरन्यास है[1] । "हि" शब्द के प्रयोग से हेत्वर्थ की सिद्धी मानी है, और अर्थान्तरन्यास का स्पष्टीकरण भी[2] ।

आचार्य दण्डी के अनुसार, किसी वस्तु को प्रस्तुत करके उसके साधन में समर्थ किसी अन्य वस्तु का न्यास "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है[3] । दण्डी ने "अर्थान्तरन्यास" के 8 भेद किये हैं । भामह और दण्डी की धारणा को वामन ने स्वीकार किया है । "उक्त अर्थ की सिद्धी के लिए अन्य वाक्यार्थ का न्यसन अर्थान्तरन्यास माना है[4] । आचार्य रुद्रट ने सामान्य एवं विशेष भावों का समावेश

1• उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।।
भामह-काव्यालङ्कार - 2/71.

2• "हि-शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।।
भामह-काव्यालङ्कार-2/73

3• ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।।
दण्डी-काव्यादर्श-2/169

4• उक्तसिद्धयै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ।।
वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति-4/3/21

करते हुए, "साधर्म्य" एवं "वैधर्म्य" से भेद किया है[1]। आचार्य मम्मट के अनुसार सामान्य का विशेष से और विशेष का जो सामान्य से समर्थन किया है, वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। यह साधर्म्य तथा वैधर्म्य से 2 प्रकार का है[2]।

समासोक्ति अलङ्कार

जिस अलङ्कार के विवक्षित अर्थ में प्रीति उत्पन्न करने के लिए, उसके योग्य समान धर्म वाले किसी अन्य अर्थ की उक्ति किया जाए तो वहाँ "समासोक्ति" है[3]। इसे "अन्योक्ति" अलङ्कार भी कहते हैं।

उदाहरण मात्र-

मधुकर मा कुरु शोकं विचर करीरद्रुमस्य कुसुमेषु ।

वनतुहिन पातदलिता क्वं नु सा मालती मिलति ।। 4/95

---

1. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्य वाभिधाय तत्सिद्धये ।

   यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत् सोऽर्थान्तरन्यासः ।।

   रुद्रट-काव्यालङ्कार-8/79

2. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।

   यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

   मम्मट-काव्यप्रकाश-10/109

   उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम् ।

   सधर्म यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरयं यथा ।।

   वाग्भट-4/94

करते हुए, "साधर्म्य" एवं "वैधर्म्य" से भेद किया है[1]। आचार्य मम्मट के अनुसार सामान्य का विशेष से और विशेष का जो सामान्य से समर्थन किया है, वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। यह साधर्म्य तथा वैधर्म्य से 2 प्रकार का है[2]।

समासोक्ति अलङ्कार

जिस अलङ्कार के विवक्षित अर्थ में प्रीति उत्पन्न करने के लिए, उसके यों समान धर्म वाले किसी अन्य अर्थ की उक्ति किया जाए तो वहाँ "समासोक्ति" है[3]। इसे "अन्योक्ति" अलङ्कार भी कहते हैं।

उदाहरण मात्र-

मधुकर मा कुरु शोकं विचर करीरद्रुमस्य कुसुमेषु।
बन्धुहिम पातदलिता क्वं नु सा मालती मिलति ।। 4/95

---

1. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत् सोऽर्थान्तरन्यासः ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार-8/79

2. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश-10/109

3. उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम्।
सधर्म यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरयं यथा ।।

वाग्भट-4/94

प्रस्तुत श्लोक में मालती के नष्ट पुष्पों की प्रीति के लिए, उसके समान धर्म वाले करीर पुष्पों का कथन होने से "समासोक्ति अलङ्कार" है ।

'समासोक्ति' महत्वपूर्ण अर्थालङ्कार है, जिसे सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । इसमें अप्रस्तुत "उपमान" का कथन और प्रस्तुत 'उपमेय' की प्रतीति "समासोक्ति" है । आचार्य दण्डी के अनुसार, किसी "इष्ट" वस्तु को अभिप्राय में रखकर, उसके समान किसी "अन्य वस्तु" का कथन, अर्थात्, संक्षिप्त कथन होने से "समासोक्ति" अलङ्कार है[1] । आचार्य मम्मट ने श्लिष्ट विशेषणों से युक्त अप्रस्तुत उक्ति को समासोक्ति माना है, जो प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ है[2] ।

---

1. वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
   उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते ।।

   दण्डी-काव्यादर्श-2/205

2. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।

   10/147

   प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्रकृतार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः । पृ० 474

   मम्मट-काव्यप्रकाश

विभावना अलङ्•ार

विभावना 'अतिप्राचीन और महत्वपूर्ण अलङ्•ार है । "जिस अलङ्•ार में किसी विशेष कारण के बिना, केवल स्वाभाविक गुणों के उत्कर्ष से कार्य का होना प्रकट होता है तो वह विभावना अलङ्•ार है[1] ।

उदाहरणम्–

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः ।

अनलङ्•ारसुभगाः पान्तु युष्मान्जिनेश्वराः ।।

वाग्भट–4/97

प्रस्तुत श्लोक में अध्ययन, द्रव्य और अलङ्•ारों के बिना भी "जिन भगवान" की विद्वता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य उनके "स्वभाविक गुणों" के कारण हैं । अतः यहाँ विभावना अलङ्•ार है ।।

"विभावना" का प्रथम विवेचन आचार्य भामह ने किया है । भामह के अनुसार क्रिया के प्रतिषेध में फल का वर्णन "विभावना" अलङ्•ार है, परन्तु इस विचित्र कार्य का समाधान सुलभ होना चाहिए[2] ।। यह समाधान ही सौन्दर्य का चमत्कार

1• विना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना ।।

वाग्भट–4/96

2• क्रियायाः या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ।।

भामह–काव्यालङ्•ार–2/77

माना है । आचार्य दण्डी ने इस लक्षण का विकास किया और विभावना के 3 अंगों का उल्लेख किया है । (1) प्रसिद्ध कारण का अभाव (2) कारणान्तर की कल्पना (3) अन्य कारण की स्वभावतः सिद्धि[1] । उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्कार के लक्षण को अधिक स्पष्टता प्रदान की, उन्होंने सामान्यतः कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को "विभावना" स्वीकार किया है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार, हेतुरूप "क्रिया" अर्थात् "कारण" का निषेध या अभाव होने पर फल की उत्पत्ति "विभावना" अलङ्कार है[2] ।

दीपक अलङ्कार

"दीपक" अलङ्कार की कल्पना "दीपक-न्याय" के आधार पर हुई है । जिस प्रकार प्रासाद में रखा हुआ दीपक प्रासाद के साथ अन्यत्र भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार एक स्थान पर स्थित "धर्म" अन्य स्थानों को भी दीप्त करता है ।

---

1. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्या यत्किंचित्कारणान्तरम् ।
   यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ।।

   दण्डी-काव्यादर्श-2/199

2. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।

   10/107-पृ0 498

   वृत्ति- हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना । पृ0 498

   मम्मट-काव्यप्रकाश

आचार्य वाग्भट के अनुसार, "जिस स्थान पर आदि, मध्य अथवा अन्त में रहने वाली एक क्रिया से वाक्य का सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वहाँ पर "दीपक" अलङ्कार उपस्थित माना है[1]।

उदाहरणमाह--

जगुस्तव दिवि स्वामिन्गन्धर्वाः पावनं यशः ।
किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ।।

वाग्भट- 4/99

यहाँ पूर्वार्द्ध के आदि में प्रयुक्त "जगुः" क्रिया से सम्पूर्ण श्लोक का सम्बन्ध होने से "दीपक" अलङ्कार है । एवं मध्यान्तयोरपि । सर्वत्र यथा--

विराजन्ति तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।
विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ।।

वाग्भट- 4/100

"रात्रि में अन्धकार छाया हुआ है" इत्यादि चारों वाक्यों का अर्थ "निशि" शब्द से सम्बन्धित है । अतः यहाँ "दीपक" अलङ्कार है ।

---

1. आदिमध्यान्तवर्त्यक पदार्थेनार्थसङ्गतिः ।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ।।

वाग्भट - 4/98

आचार्य भरत[1], भामह तथा दण्डी[2] के अनुसार जहाँ "एकवर्ती धर्म नानाधिकरणों में स्थित अर्थों का उपकार करे" तो वहाँ दीपक अलड्•कार है। दण्डी ने "जाति" के आधार पर इसके चार भेदों एवं अन्याय भेदों का उल्लेख काव्यादर्श में किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने "दीपक" के लक्षण में थोड़ा परिवर्तन किया। आचार्य मम्मट ने दीपक अलड्•कार को दो प्रकार से स्वीकार किया— §1§ क्रिया दीपक और §2§ कारक दीपक तथा दोनों का लक्षण एक ही कारिका में किया है। मम्मट के अनुसार, 'प्राकरणिक' और 'अप्राकरणिक' अर्थात् 'उपमान' तथा 'उपमेय' का क्रियादिरूप धर्म जो एक ही बार ग्रहण किया जाए अर्थात् जहाँ एक ही क्रियादिरूप धर्म का अनेक कारकों के साथ सम्बन्ध हो वहाँ क्रिया दीपक का एक भेद उपस्थित है। दूसरा भेद इस प्रकार है— "बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण होने पर "कारक दीपक" अलड्•कार माना है[3]।

---

1. नानाधिकरणार्थानां शब्दानां संप्रकीर्तितम् ।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद् दीपकमिहोच्यते ।।

भरत–नाट्यशास्त्र–16/60

2. जातिक्रिया गुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपचार श्चेत्तदाहुर्दीपकं यथा ।।

दण्डी–काव्यादर्श–2/97

3. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।

मम्मट–काव्यप्रकाश–10/103

अतिशय अलङ्कार

"अतिशयोक्ति" को "अतिशय" की संज्ञा से अभिहित किया है । "वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए, जहाँ किसी असम्भव अर्थ का वर्णन किया जाय वहाँ "अतिशय" अलङ्कार है"[1]।

उदाहरति—

त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेन सम्मूर्च्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश ।
अन्तर्लुठद्गिरिपरस्परशृङ्गसङ्घोरारवैर्[illegible]ति निद्रा ।।

वाग्भट – 4/102

यहाँ पर राजा के द्वारा शत्रु-संहार करने से, उन राजाओं की [illegible] के शोकोच्छ्वास से, लहरों का मूर्च्छित हो जाना और सागर में पर्वतों का लुढ़कना तथा उनकी श्रृङ्गावलियों में परस्पर रगड़ से भीषण शब्दों के द्वारा विष्णु भगवान की निद्रा का भङ्ग होना असम्भाव्य है । अतः यहाँ केवल राजा के शौर्य और पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिए ही वर्णन किया है । इस प्रकार यहाँ अतिशय नामक अलङ्कार है ।

यद्वियोगेऽ[illegible]लङ्कार माह—

एकदण्डानि सप्त स्युर्यदिच्छत्राणि पर्वते ।
तदोपमीयते पार्श्वमूर्ध्नि सप्तफणः फणी ।। वाग्भट–4/103

1· वस्तुनो वक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते ।
वदन्त्यतिशयाख्यं तमलङ्कारं बुधा यथा ।।

वाग्भट– 4/101

प्रस्तुत श्लोक में पार्श्वनाथ के शीश पर रहने वाले सर्प की अद्वितीयता को प्रदर्शित करने के लिए पर्वत पर "एकदण्डयुक्त सात छत्रों" का असम्भाव्य वर्णन होने से "अतिशय" नामक अलङ्कार है ।

आचार्य भामह ने "अतिशयोक्ति" का विवेचन करते हुए इसका मुख्य लक्षण "लोकातिक्रान्तिगोचरत्व" माना है[1]। आचार्य दण्डी का आशय भामह की इस उक्ति से कोई विशेष भिन्न नहीं अतिशयोक्ति के लिए "लोकोत्तरता" का समावेश इन्हें भी अभिष्ट है[2]। आचार्य वामन ने संभाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को अतिशयोक्ति माना है[3]। आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति को अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अलङ्कार माना है । मम्मट ने अतिशयोक्ति के चार भेद स्वीकार किये हैं[4], जिस पर आचार्य उद्भट का प्रभाव है-5

(क) उपमेय का उपमान द्वारा निगरण एवं अध्यवसान;

(ख) प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन ;

(ग) "यदि" के समानार्थक शब्द द्वारा कल्पना ;

(घ) कार्य-कारण का पौर्वापर्य-विपर्यय ।

---

1. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
   मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ।।

   भामह-काव्यालङ्कार-2/81

2. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी ।
   असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ।।

   दण्डी-[illegible]-2/214

3. संभाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः ।।

   वामन-काव्यालङ्कार 4/3/10

4. निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्, प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्
   कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः । विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा ।।

हेतु अलङ्कार

जिस अलङ्कार में किसी अर्थ को उत्पन्न करने वाले कर्ता के योग्यता की युक्ति का प्रकाश किया जाता है,उसे वाग्भट ने हेतु अलङ्कार माना है[1]।

उदाहरति-

यौवनसमयोग्यता तप्ता विरहे करोति नाथस्य ।
कण्ठाभ्यन्तरघोलितमधुरस्वरं बालिका गीतम् ।।

वाग्भट- 4/105

प्रस्तुत श्लोक में कर्त्तारूप नौवयौवना बाला के गान में युक्ति और विरह के कारण गीत फूट पड़ने से "हेतु" नामक अलङ्कार है ।

विषसोदरो मृगाङ्कः कृतान्तदिश आगतः पवनः ।
जातिपलाशः शिखरी पथिकान्मारयन्त्येत इदानीम् ।।

वाग्भट- 4/106

यहाँ पर "विष" का सहोदर होने के कारण "चन्द्रमा में" मार डालने की क्षमता है,दक्षिण दिशा के "वायु" में मारने का सामर्थ्य और नवीन पत्रों से लदे होने के

1• यत्रोत्पादकतः किञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते ।
तद्योग्यता युक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ।।

वाग्भट- 4/104

कारण "कृष्ण" के द्वारा मारा जाना "हेतुयुक्त" होने से "हेतु नामक" अलङ्‌कार है। "हेतु" अलङ्‌कार का प्रथम संकेत आचार्य भामह में मिलता है, भामह ने "वक्रोक्ति" के अभाव में हेतु के अलङ्‌कारत्व का खण्डन किया है[1]। उद्भट, वामन, मम्मट आदि आचार्यों ने हेतु को अलङ्‌कार नहीं माना है। किन्तु आचार्य दण्डी ने हेतु को "वाचामुत्तमभूषणम्" कहकर इसकी प्रतिष्ठा की। दण्डी के अनुसार हेतु का 2 प्रकार का है- (1) कारक हेतु और (2) ज्ञापक हेतु[2]।

---

1. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्‌कारतया मतः ।
   समुद[illegible]ानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।।

   भामह-काव्यालङ्‌कार- 2/86

2. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।
   कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ यथा ।।

   दण्डी-काव्यादर्श-2/235

पर्यायोक्त अलङ्कार

पर्यायेणान्य वचनेन वचन मुक्ति: पर्यायोक्ति: । जहाँ "विवक्षित अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के न रहने पर भी, विवक्षित अर्थ का बोध हो, तो वहाँ "पर्यायोक्ति" अलङ्कार है ।[1]

उदाहरति-

स्वसैन्यवाहनिवहस्य महाहवेषु देव: प्रभो रिपुपुरन्ध्रिजनस्याचासीद् ।
एक: खुरैर्बहुलरेणुततिं चकार तां सञ्जहार पुनरश्रुजलैर्यदन्य: ।।

वाग्भट- 4/108

प्रस्तुत श्लोक में "शत्रु संहार रूप" विवक्षित अर्थ की प्रतीति "वैरिपत्नियों" के "अश्रुपात" वर्णन से है । इसलिए यहाँ "पर्यायोक्ति" अलङ्कार है । "पर्यायोक्ति" अथवा "पर्यायोक्त" अलङ्कार के विकास दो चरणों में विभक्त है- प्रथम भामह से मम्मट और द्वितीय मम्मट से जगन्नाथ तक । मम्मट से पूर्व पर्यायोक्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं है । "अन्य प्रकार से कथन को पर्यायोक्ति माना है ।" आचार्य भामह[2] ने इसी प्रकार के लक्षण को स्वीकार किया है । आचार्य मम्मट के अनुसार, व्यंग्यार्थ का अभिधा द्वारा प्रतिपादन पर्यायोक्ति अलङ्कार है ।[3]

---

1. अतत्परतया यत्र जल्प {रूप्य} मानेन वस्तुना ।
   विवक्षितं प्रतीयते पर्यायोक्तिरियं यथा ।। 4/107 वाग्भट
2. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
   उवाचं रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ।। 3/8 भामह-काव्यालङ्कार
3. पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वच: ।।

मम्मट- काव्यप्रकाश- 10/174

समाहित अलङ्कार

जिस अलङ्कार में कार्य के प्रारम्भ में संयोग वश उस कार्य में सहायता करने वाला, अन्य कारण उपस्थित हो अथवा घटित हो, तो उसे "समाहित" अलङ्कार माना है ।[1]

उदाहरति-

मनस्विनी वल्लभवेश्म गन्तुमुत्कण्ठिता यावदभून्निशायाम् ।
त[illegible]धरधीरनादप्रबोधितः सौधशिखी चुकूज ।।

वाग्भट- 4/110

प्रस्तुत श्लोक में नायिका स्वयं ही मान त्यागकर पति के समीप जाने को उत्कण्ठित हुई, कि उस समय "नवमेघ गर्जन" से आनन्दित होकर "मोर ने भी कूजना" प्रारम्भ किया । अतः यहाँ पर मान भङ्ग रूपी कार्य में दैवयोग से हुए "घन गर्जन" और "मोरो की काकली" के सहायक होने से "समाहित" अलङ्कार है ।
आचार्य वामन, रूद्रट तथा मम्मट ने "समाहित" को अलङ्कार नहीं स्वीकार किया । किन्तु आचार्य दण्डी ने "समाहित" को अलङ्कार मानते हुए, इसका लक्षण इस प्रकार से किया है- "कोई कार्य आरम्भ कर रहे किसी व्यक्ति के समक्ष, दैववश उस कार्य को सिद्ध करने में समर्थ, अन्य साधन की उपस्थिति को "समाहित" अलङ्कार माना है ।[2] अतः वाग्भट ने दण्डी की भाँति "समाहित" लक्षण स्वीकार किया है ।

---

1. कारणान्तरसम्पत्तिर्दैवादारम्भ एव हि ।
   यत्र कार्यस्य जायेत तज्जायेत समाहितम् ।। वाग्भट- 4/109
2. किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
   तत्साध[illegible]पत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ।। 2/298 दण्डी-काव्यादर्श

परिवृत्ति अलङ्कार

जहाँ "सदृश" अथवा "असदृश" अर्थ के कारण विवक्षित अर्थ में परिवर्तन हो, तो वहाँ "परिवृत्ति" अलङ्कार वाग्भट ने स्वीकार किया है ।[1]

<u>उदाहरति-</u>

सादृश्य रूप परिवृत्ति-

अन्तर्गतव्यालफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूधु भर्त: ।
रत्नप्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते त्वदरातिवर्ग: ।।

वाग्भट-4/112

प्रस्तुत श्लोक में, दीपों से प्रकाशित घरों को उनके "समान" सर्प-मणि की कान्ति-युक्त कन्दराओं में परिवर्तित करने से, यहाँ पर "सादृश्य रूप परिवृत्ति" अलङ्कार है

असादृश्य रूप परिवृत्ति-

दत्वा प्रहारं रिपुपार्थिवानां जग्राह य: संयति जीवितव्यम् ।
शृङ्गारभङ्गी च तदङ्गनानामादाय दु:खानि ददौ सदैव ।।

वाग्भट-4/113

इस श्लोक में "प्रहार देकर" उसके बदले उनके "असमान" "प्राणों" को ले लेने तथा शृङ्गार-सज्जा" को छीन कर इसके स्थान पर उससे भिन्न दु:ख" देने के वर्णन से

यहाँ "असादृश्यस्य परिवृत्ति" अलङ्•कार है । आचार्य भामह के अनुसार, किसी अन्य वस्तु परित्याग से, विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और अर्थान्तरन्यास से युक्त हो, तो परिवृत्ति अलङ्•कार है ।[1] आचार्य दण्डी ने "विनिमय" पद का प्रयोग किया है । "अर्थों" का विनिमय "परिवृत्ति" है ।[2] आचार्य उद्भट ने, "किसी वस्तु का सम, न्यून अथवा विशिष्ट के साथ परिवर्तन को परिवृत्ति मानते हैं ।[3] आचार्य मम्मट ने "समपरिवृत्ति" एवं "असमपरिवृत्ति" नामक दो भेद स्वीकार किये हैं ।[4]

1• विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुन: ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसे यथा ।। 3/41

भामह-काव्यालङ्•कार

2• अर्थानां यो विनिमय. परिवृत्तिस्तु सा स्मृता ।।

दण्डी-काव्यादर्श - 2/351

3• सम-न्यून-विशिष्टैस्तु कस्यचित्परिवर्तनम् ।
अर्थानर्थस्वभावं यद् परिवृत्तिरभाणि सा ।।

उद्भट-काव्यालङ्•कार सार संग्रह-5/16

4• परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 10/113

यथासंख्य अलङ्कार

यथा संख्य का अर्थ है, संख्या क्रम के अनुसार । (पूर्व कथित) कहे हुए पदार्थों से सम्बन्धित अर्थों का, उसी क्रम बद्ध ढंग से वर्णन को वाग्भट ने "यथासंख्य" अलङ्कार माना है ।[1]

उदाहरति-

मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या चरण कमलभासा चास्या चाननेन ।
बिसकिसलयपद्मान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये विरहविपदिवैरात्तन्वते तापमङ्गे ।।

वाग्भट- 4/115

यहाँ भुजलता, लालिमामय चरण और मुख से सम्बन्ध रखने वाले "बिसतन्तु", "कमल-पत्र", तथा "कमलपुष्प", का क्रमबद्ध ढङ्ग से वर्णन होने के कारण "यथासंख्य" नामक अलङ्कार है ।

आचार्य भामह ने भिन्न धर्म वाले अनेक निर्दिष्ट अर्थों को यथासंख्य अलङ्कार माना है ।[2] आचार्य दण्डी ने इसके तीन नाम स्वीकार किये हैं- (1) यथासंख्य (2) संख्यान (3) क्रम । दण्डी के अनुसार पूर्वकथित अथवा वर्णित पदार्थों का उसी क्रम से कथन करना यथासंख्य अलङ्कार है ।[3] आचार्य मम्मट ने "क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय होने पर 'यथासंख्य' अलङ्कार स्वीकार किया है।

---

1. यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थाः सम्बन्धिनः पुनः ।
   क्रमेण तेन बध्यन्ते तद्यथासङ्ख्यमुच्यते ।। वाग्भट - 4/114
2. भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।
   क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ।। भामह-काव्यालङ्कार-2/89
3. उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।
   यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ।। दण्डी-काव्यादर्श-2/273
4. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।।।। मम्मट-काव्यप्रकाश-10/108

विषम अलङ्कार

जिस अलङ्कार में वक्ता दो वस्तुओं के असम्भव सम्बन्ध को,अनुचित ढङ्ग से वर्णन करता है,उसे आचार्य वाग्भट ने "विषम" अलङ्कार माना है ।[1]

उदाहरति-

केदं तव वपुर्वत्से कदलीगर्भकोमलम् ।

क्वायं राजीमति क्लेशदायी व्रतपरिग्रह: ।। वाग्भट-4/117

प्रस्तुत श्लोक में "कोमल शरीर" के साथ असम्भाव्य "कठोर व्रतपालन" का अनुचित सम्बन्ध करने से वाग्भट ने "विषमालङ्कार" माना है । "विषम" एक महत्त्वपूर्ण अलङ्कार है । इसका प्रथम विवेचन आचार्य रुद्रट ने किया है । रुद्रट के अनुसार जहाँ कार्य और कारण से सम्बद्ध गुणों अथवा क्रियाओं का परस्पर विरोध उत्पन्न हो,वहाँ "विषम" नामक अलङ्कार है ।[2] रुद्रट ने विषम के पाँच भेद स्वीकार किये हैं । आचार्य मम्मट ने "विषम" अलङ्कार को चार प्रकार से माना है ।[3]

1• वस्तुनो यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित् ।

असम्भाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा ।। वाग्भट - 4/116

2• कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोध: [illegible] गुणयो: ।

तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम् ।। रुद्रट-काव्यालङ्कार- 9/45

3•. क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।

कर्तु: क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ।। 10/126

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।

क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मत: ।। मम्मट-काव्यप्रकाश 10/127

(1) अत्यन्त वैधर्म्य के कारण सम्बन्ध न प्रतीत हो ।

(2) कर्त्ता को अपनी क्रिया के अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, बल्कि अप्रार्थित अनर्थविषय को प्राप्त हो ।

(3) कार्य,कारण के अनुरूप हो फिर भी उन दोनों के गुण विरुद्ध हों ।

(4) कार्य,कारण के अनुरूप हो फिर भी उन दोनों की क्रियाएँ विरुद्ध हों ।

अतः ये चारो भेद रुद्रट में भी विद्यमान हैं ।

सहोक्ति अलङ्कार

जिस अलङ्कार में किसी कारण से उत्पन्न कार्य में,उस कारण की शक्ति को दिखाने के लिए,"कार्य" तथा "कारण" एक साथ वर्णन उपस्थित हो, तो उसे वाग्भट ने सहोक्ति अलङ्कार माना है ।[1]

उदाहरति-

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्धं मदनैसङ्ग्रामे ।
सह विद्विषां श्रियासौ कोदण्डं कर्षति श्रीमान् ।।

वाग्भट-4/119

यहाँ "धनुष" धारण करना" इत्यादि कारण से उत्पन्न यशादि के अपहरण में "धनु[illegible]दि" हेतु के सामर्थ्य को स्वीकार करने से "सहोक्ति" अलङ्कार है

---

1. सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह ।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ।।

वाग्भट- 4/118

"सहोक्ति" अलङ्कार की उद्भवना आचार्य भामह ने किया । भामह के अनुसार जहाँ एक समय में दो क्रियाएँ, दो वस्तुओं से सम्बद्ध हों, उनका प्रतिपादन एक ही पद के द्वारा हो, वहाँ सहोक्ति है ।[1] आचार्य दण्डी ने गुणों अथवा क्रियाओं के एक साथ घटित होने का वर्णन साहोक्ति मानते हैं ।[2] आचार्य रुद्रट ने "वास्तव" एवं "औपम्य" इन दो वर्गों में "सहोक्ति" का वर्णन किया है । प्रथम में "कार्य-कारण भाव" और द्वितीय में "उपमानोपमेय भावों" का समावेश है ।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार, जहाँ "सह" शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से एक पद दो पदों से स सम्बद्ध हो तो वहाँ सहोक्ति अलङ्कार है ।[4]

1• तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।

पदेनैकेन कथ्यते संहोक्तिः सा मता यथा ।।

भामह-काव्यालङ्कार- 3/39

2• सहोक्तिः सहभावस्य कथनं गुणकर्मणाम् ।

दण्डी-काव्यादर्श- 2/351

3• सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धराधिकक्रियोयोऽर्थः ।

तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार-8/99

4• सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ।

मम्मट-काव्यप्रकाश- 10/112

विरोध अलङ्कार

जिस वाक्य के कहने या सुनने से तत्काल ही शब्द अथवा अर्थ में विरोध प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में किसी भी प्रकार का विरोध न हो, तो उसे विरोधालङ्कार मानते है ।[1]

उदाहरणमाह-

दुर्वारिबाणनिवहेन सुवर्मणापि लोकोत्तरान्वयभुवापि च धीवरेण ।

प्रत्यर्थिषु प्रतिरणं स्खलितेषु तेन संग्रामवाप्य युयुधे पुनरेव जिष्णुः ।।

वाग्भट- 4/121

प्रस्तुत श्लोक में "दुर्वारिबाणनिवहेन" "सुवर्मणा" का विशेषण है और "लोकोत्तरतान्वयभुवा" "धीवरेण" का इन शब्दों को सुनने से विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि जो दूषित "कवच" से युक्त है, वह उत्तम "कवच" वाला कैसे हो सकता है?और जो "अच्छे कुल" में उत्पन्न है वह "धीवर" अर्थात् "कहार" कैसे हो सकता है ? अतः इन शब्दों का परिहार है- "दुर्वारिबाणनिवहेन" का अर्थ अभेद्य कवच है न कि दूषित कवच तथा "धीवर" शब्द का अर्थ "उत्तम बुद्धिवाला" है "कहार" नहीं । विरोध शब्दों के सुनने मात्र से प्रतीत होता है । वास्तव में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । अतः यह "शब्द जनित विरोध" का उदाहरण है ।

अर्थाकृते विरोधमाह-

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूभृच्छिरांसि विनतानि ।

क्षिप्ता युधि [illegible]: कीर्तिर्याता दिगन्तेषु ।। वाग्भट- 4/122

---

1. आभाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः ।

शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ।। वाग्भट- 4/120

सिंहासन पर पैर रखने से शत्रु राजाओं के शीश झुक जाने और चापों को फेंकने के साथ यश के फैलने में विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु अर्थ पर विचार करने से इसका परिहार हो जाता है, क्योंकि इससे राजा के "पराक्रम" और उसके "कीर्ति" का ज्ञान होता है ।

आचार्य भामह के अनुसार विशेषाभिधान के निमित्त किसी गुण अथवा क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का वर्णन "विरोध" अलङ्कार है ।[1] आचार्य दण्डी ने विशेष दर्शन के निमित्त विरुद्ध पदार्थों का संसर्ग दर्शन "विरोध" अलङ्कार माना है ।[2] आचार्य वामन ने "विरोधाभासत्व" पद का प्रयोग किया है । विरुद्ध के न रहने पर भी विरुद्ध अर्थ के सदृश प्रतीत होना "विरोधाभासत्व" है और इसे विरोध नामक अलङ्कार भी माना है ।[3] आचार्य मम्मट ने विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति कराने वाले कथन को "विरोधाभास" अलङ्कार माना है तथा इसके दस भेदों का वर्णन किया है ।[4]

---

1. गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा ।
   या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः ।।   भामह-काव्यालङ्कार - 3/25
2. विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
   विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा ।।   दण्डी-काव्यादर्श-2/333
3. विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।
   अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।।

   वामन-काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति-4/3/12
4. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।   10/165-सूत्र
   जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा, स्याद् गुणस्त्रिभिः ।
   क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।।   मम्मट-काव्यप्रकाश-10/110

अवसर अलङ्कार

जहाँ किसी अर्थ से उत्कृष्ट कोई अन्य अर्थ दृष्टान्त से प्रस्तुत होता है, वहाँ काव्य-शास्त्र-मनीषी "अवसर" अलङ्कार मानते हैं ।[1]

उदाहरणमाह—

स एष निश्चयानन्द. स्वच्छन्दतमविक्रम. ।

येन नक्तञ्चर: सोऽपि युद्धे बर्बरको जित: ।।

वाग्भट - 4/124

यहाँ पर बर्बर जाति के निशाचर का अखण्ड आनन्द और स्वच्छन्द पराक्रम राजा की विजय में और अधिक उत्कर्ष उत्पन्न करता है । अत: यहाँ अवसर अलङ्कार है । "अवसर" अलङ्कार का विवेचन आचार्य रूद्रट ने किया है । रूद्रट के अनुसार "न्यून अर्थ के प्रसङ्ग में उत्कृष्ट अथवा सरस अर्थान्तर की अवतारणा में "अवसर" अलङ्कार है"।[2] मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने "अवसर" अलङ्कार का वर्णन नहीं किया । रूद्रट का "अवसर" अलङ्कार मम्मट का द्वितीय "उदात्त" है । अत: वाग्भट ने रूद्रट की भाँति "अवसर" नामक अलङ्कार स्वीकार किया है ।

1· यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।

प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तोबुधैरवसरो यथा ।।

वाग्भट- 4/123

2· अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।

अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसर: ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार - 7/103

सार अलङ्कार

जिस अलङ्कार में प्रतिपादित तथ्य से, अन्य सार युक्त तथ्य का यथा-शक्ति निरूपण किया जाय, तो उसे "सार" नामक अलङ्कार मानते हैं ।[1]

सारमुदाहरति-

संसारे मानुष्यं सारं मनुष्ये च कौलीन्यम् ।
कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ।।

वाग्भट - 4/126

प्रस्तुत श्लोक में एक प्रतिपादित तथ्य से उत्तरोत्तर वस्तु का सार निरूपित किया जाने के कारण "सार" अलङ्कार की उपस्थिति है । "सार" के उद्भावक आचार्य रुद्रट हैं । रुद्रट के अनुसार, "समुदाय में से एक देश को, क्रम से उत्कृष्ट निर्धारित करना "सार" नाम अलङ्कार है ।[2] रुय्यक ने "सार" को "उदार" अलङ्कार के नाम से स्वीकार किया है । आचार्य मम्मट ने रुद्रट के ही लक्षण को माना है ।[3] अतः वाग्भट, रुद्रट तथा मम्मट ने "सार" अलङ्कार को एक जैसा स्वीकार किया है ।

---

1. यत्र निर्धारितात्सारात्सारं सारं ततस्ततः ।
निर्धार्यते यथाशक्ति तत्सारमिति कथ्यते ।।

वाग्भट- 4/125

2. यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति ।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम् ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार 7/96

3. उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ।।

संश्लेष अलङ्कार

जहाँ उन्हीं पदों से अथवा भिन्न पदों से, एक ही वाक्य अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति, करता है, वहाँ वाग्भट ने "श्लेष" अलङ्कार माना है ।[1] वाग्भट ने 2 प्रकार का श्लेष स्वीकार किया है- §1§ "तत्पदश्लेष" और §2§ भिन्न पद श्लेष इन दोनों को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है ।

तत्पदश्लेष-

आनन्दमुल्लासयत: समन्तात्करैरसन्तापकरै:प्रजानाम् ।

यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो जग्राह वेलां किल सिन्धुनाथ: ।।

वाग्भट - 4/128

यहाँ पर "सिन्धुनाथ:" पद से दो अर्थों का बोध होने के कारण "तत्पदश्लेष" अलङ्कार माना है ।

भिन्नपदश्लेष-

कुर्वन्कुवलयोल्लासं रम्याम्भोजश्रियं हरन् ।

रेजे राजापि तच्चित्रं निशान्ते कान्तिमत्तया ।।

वाग्भट - 4/129

इस श्लोक में "कुवलयोल्लास" आदि पदों का खण्ड करने से, भिन्न अर्थों का बोध होने के कारण भिन्नपदश्लेष" है ।

---

1. पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि ।

अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ।।

वाग्भट - 4/127

श्लेष अलङ्•कार का प्रथम विवेचन आचार्य भामह ने किया है । आचार्य दण्डी ने समान शब्दक्रम से युक्त किन्तु भिन्न अर्थ वाली उक्ति को "श्लेष" अलङ्•कार स्वीकार किया । दण्डी ने श्लेष को 2 प्रकार से माना है -
§1§ अभिन्न पद §2§ भिन्न पद ।[1] आचार्यों ने "शब्द श्लेष" और "अर्थ श्लेष" को अलग-अलग ढङ्• से स्वीकार किया है । जहाँ शब्द का परिवर्तन करने तथा दूसरा "समानार्थक" शब्द का परिवर्तन करने रख देने पर श्लेष नहीं रहता, वहाँ श्लेष को "शब्द-निष्ठ" होने से "शब्दालङ्•कार" माना है । जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेष के चमत्कार की हानि नहीं होती वहाँ अर्थनिष्ठ होने के कारण "अर्थालङ्•कार" है । आचार्य मम्मट ने "श्लेष" का भेद वर्णन नहीं किया अपितु "शब्दश्लेष" एवं "अर्थश्लेष" का प्रतिपादन किया है ।[2]
वाग्भट, भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने श्लेष को अर्थालङ्•कार माना है ।

1• श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।
   तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ।।

दण्डी-काव्यादर्श- 2/310

2• श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ।

मम्मट-काव्यप्रकाश - 10/96

समुच्चय अलङ्कार

जिस काव्य में "अत्युत्कृष्ट" अथवा "निकृष्ट" वस्तुओं का एक साथ वर्णन किया जाय, तो उसे "समुच्चय" नामक अलङ्कार मानते है ।[1]

अत्युत्कृष्ट समुच्चयोदाहरणमाह-

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।

श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जातीह ।।

वाग्भट - 4/131

यहाँ पर "अणहिल्लपाटन नगर" "राजा जयसिंह", और "श्री कलश हाथी" इन तीनों उत्कृष्ट वस्तुओं का एक साथ प्रतिपादन होने के कारण "समुच्चय" अलङ्कार है ।

अत्यपकृष्टालङ्कार माह-

ग्रामे वासो नायको निर्विवेकः कौटिल्यानामेकपात्रं कलत्रम् ।

नित्यं रोगः पारवश्यं च पुंसामेतत्सर्वं जीवतामेव मृत्युः ।।

वाग्भट - 4/132

यहाँ गाँव में रहना, मूर्खपति, कुटिलास्त्री सदैव रोगी रहना और आधीनता इन सभी निकृष्ट वस्तुओं का एक साथ वर्णन होने से "समुच्चय" अलङ्कार है ।

---

1. एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।

अत्युत्कृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ।।

वाग्भट - 4/130

समुच्चय अलङ्•कार का वर्णन आचार्य रुद्रट ने किया है । सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसको मान्यता प्रदान की है । रुद्रट के अनुसार, जहाँ एक ही आधार पर अनेक सुखदायक आदि वस्तुओं का एक साथ उत्कृष्ट वर्णन किया जाय, तो वहाँ "समुच्चय" अलङ्•कार है । "समुच्चय" के 3 भेद रुद्रट ने स्वीकार किया है— §1§ दो सत्पदार्थों का योग §2§ दो असत्पदार्थों का योग §3§ दो सदसत्पदार्थों का योग ।[1]

आचार्य वाग्भट ने रुद्रट की भाँति "समुच्चय" नामक अलङ्•कार स्वीकार किया है ।

अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्•कार

जिस काव्य में वर्णनीय वस्तु से भिन्न अन्य वस्तु की प्रशंसा की जाय, तो उसे "अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्•कार वाग्भट ने माना है ।[2]

अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणमाह—

स्वैरं विहरति स्वैरं शेते स्वैरं च जल्पति ।

भिक्षुरेकः सुखी लोके राजचौरभयोज्झितः ।।

वाग्भट - 4/134

1• यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव ।

ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः ।।

रुद्रट-काव्यालङ्•कार - 7/19

2• प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।

अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा ।।

वाग्भट- 4/133

यहाँ अप्रस्तुत "सांसारिक प्राणी" की असतप्रशंसा (निन्दा) किया है, क्योंकि वह राजचौरादिभय से पीड़ित रहता है। वह न तो स्वतंत्रा पूर्वक विचरण करता है। न सो सकता और न बोल ही सकता है। अत: इसे "अप्रस्तुत प्रशंसा" नामक अलङ्कार माना है।

आचार्य भामह के अनुसार किसी वस्तु के संदर्भ में प्रसङ्ग से अलग वस्तु की स्तुति अप्रस्तुतप्रशंसा है।[1] आचार्य दण्डी के अनुसार अप्रस्तुत की "स्तुति" यदि प्रस्तुत की निन्दा के लिए प्रयुक्त होतो "अप्रस्तुत प्रशंसा" है।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार "प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली जो अप्रस्तुत अ की प्रशंसा का वर्णन है, वह "अप्रस्तुत प्रशंसा" नामक अलङ्कार है। मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद माने है।[3]

---

1. अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति: ।।

भामह-काव्यालङ्कार-3/29

2. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुति: ।।

दण्डी-काव्यादर्श-2/340

3. अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।।

10/98

कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य ववस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ।।

10/99 मम्मट-काव्यप्रकाश

एकावली अलङ्कार

पूर्व में प्रतिपादित वस्तुओं से, उत्कृष्ट वस्तुओं की, उत्तरोत्तर वर्णन को वाग्भट ने "एकावली" अलङ्कार माना है।[1]

एकावल्युदाहरणमाह—

देश: समृद्धनगरो नगराणि च सप्त भूमिनिलयानि।

निलया: सलीलललना ललनाश्चात्यन्तकमनीया:।।

वाग्भट - 4/136

यहाँ पूर्व-पूर्व में प्रतिपादित "देशादि" से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ "नगर आदि" का वर्णन होने से एकावली अलङ्कार है।

आचार्य रुद्रट ने "वास्तव वर्ग" में "एकावली" अलङ्कार का वर्णन किया है तथा "समुच्चय" से इसका अन्तर भी स्पष्ट किया। रुद्रट के अनुसार जहाँ अर्थों की परम्परा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हो, तथा उत्तर अर्थ पूर्ववर्ती अर्थ का विशेषण हो, उसे एकावली अलङ्कार मानते हैं। इसके वर्णन का दो आधार है- (1) विधि और (2) निषेध।[2]

---

1. पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम्।

   अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता।।

   वाग्भट - 4/135

2. एकावली सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।

   आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्।।

   रुद्रट-काव्यालङ्कार - 7/109

"विधि" का उदाहरण-

सलिलं विकासिकमलं,कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।

मधु लीनालिकुलाकुलम्,अलिकुलमपि मधुररणितमिह ।।

"निषेध" का उदाहरण-

नाकुसुमस्तरुरस्मिन्नुद्याने, नामधूनि कुसुमानि ।

नालीनालिकुलं मधु, नामधुरक्वाणमलिवलयम् ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार - 7/111

"समुच्चय" अलङ्कार में यथोत्तर विशेषण भाव नहीं होता, जो एकावली अलङ्कार का आधार है ।

अनुमान अलङ्कार

जिस अलङ्कार में प्रत्यक्ष चिन्ह अथवा कारण से भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में होने वाली अदृश्य वस्तु का ज्ञान हो, उसे "अनुमान" अलङ्कार वाग्भट ने माना है ।[1]

---

1. प्रत्याक्षाल्लिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।

लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ।।

वाग्भट - 4/137

अनुमानोदाहरणमाह-

नूनं नद्यस्तदाभूवन्नभिषेकाम्भसा विभो: ।
अन्यथा कथमेतासु जन: स्नानेन शुद्धयति ।।

वाग्भट- 4/138

प्रस्तुत श्लोक में प्रत्यक्ष शुद्धिरूप हेतु अभिसिञ्चन-जल से नदियों के निर्माण रूप भूतकालिक अदृश्य वस्तु का बोध होने के कारण "अनुमान" अलङ्कार है ।

जम्भभित्ककुभि ज्योतिर्यथा शुभ्रं विजृम्भते ।
उदेष्यति तथा मन्ये खल: सखि निशाकर: ।।

वाग्भट - 4/139

पूर्वार्द्ध में "ज्योत्स्ना" के प्रकाश से "भविष्य" में "चन्द्रोदय" का बोध होने के कारण यहाँ "अनुमान" अलङ्कार है ।

मुखप्रभाबाधितकान्तिरस्या दोषाकर: किङ्करतां बिभर्ति ।
तल्लोचनश्रीहृतिसापराधान्यब्जानि नो वेत्किमयं क्षणोति ।।

वाग्भट - 4/140

यहाँ कमलों को मुरझा देने के कारण वर्तमान में होने वाली चन्द्रमा की दासता का बोध होने से "अनुमान" अलङ्कार है ।

आचार्य रूद्रट ने अनुमान अलङ्कार का विवेचन किया है । "अनुमान" में चमत्कार का आधिक्य नहीं है । रूद्रट के अनुसार साध्यपरोक्ष वस्तु को प्रथम वर्णित कर फिर उसके साधक हेतु को स्वीकार करें अथवा इसका विपरीत करें, अर्थात् प्रथम साधक और तदनन्तर साध्य को स्वीकार करें ।[1]

---

1. वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।
पुनरन्यद् उपन्यस्येद् TAH RI: चैतदनुमानम् ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार - 7/56

अनुमान एक अन्य रूप भी है--- जहाँ कारण के प्रबल होने से अभूत कार्य का भूत अथवा भावि रूप से वर्णन हो।[1] आचार्य मम्मट के अनुसार, साध्य-साधन का कथन "अनुमान" है।[2] यह लक्षण आचार्य रुद्रट के अनुसार है, किन्तु इसमें पूर्वापर का सम्बन्ध मम्मट ने नहीं माना है।

परिसंख्या अलङ्कार

जिस अलङ्कार में किसी साधारण वस्तु का एक स्थान के अतिरिक्त, अन्य स्थानों में निषेध करने के लिए, उसी "एक स्थान" में वर्णन किया जाय, तो उसे "परिसंख्या" मानते हैं।[3]

परिसंख्यामुदाहरति--

यत्र वायुः परं चौरः पौरसौरभसम्पदाम् ।
युवानश्च कुलक्रोधादेव बिभ्युर्वधूजनात्।।

वाग्भट-4/142

प्रस्तुत श्लोक में "चौरकर्म" को सभी स्थानों से हटाकर "वायु में" और "भय" को

---

1. यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति ।
भावीति वा तथान्यत्कथ्यते तदन्यदनुमानम् ।।
रुद्रट-काव्यालङ्कार-7/59

2. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ।
साध्यसाधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम् ।।
पृष्ठ 523 मम्मट-काव्यप्रकाश

3. यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।
अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसङ्ख्योच्यते यथा ।।
वाग्भट- 4/141

व्याघ्रादि से दूर केवल "रमणियों में " स्वीकार करने के कारण "परिसंख्या" नामक अलङ्कार है ।

"परिसंख्या" का विवेचन आचार्य रूद्रट से प्रारम्भ होता है । अन्य उत्तर-वर्ती आचार्यों ने रूद्रट के ही लक्षण और भाव को स्वीकार किया है । आचार्य रूद्रट के अनुसार प्रश्नपूर्वक या प्रश्न के बिना ही जहाँ गुण क्रिया-जाति लक्षण वस्तु की एक स्थान पर विद्यमानता वर्णित हो, और उसी के समान दूसरे स्थान पर उसका अभाव प्रतीत हो, तो उसे "परिसंख्या" का चमत्कार माना है ।[1]

प्रश्नपूर्वक परिसंख्या का उदाहरण--

कि सुखमपारतन्त्रं, किं धनमविनाशि निर्मला विद्या ।

किं कार्यं सन्तोषो विप्रस्य महेच्छता राज्ञाम् ।।

रूद्रट-काव्यालङ्कार- 7/80

आचार्य मम्मट[2] ने रूद्रट के ही लक्षण और भाव को स्वीकार किया । किन्तु मम्मट ने परिसंख्या के चार भेद माना है ।

---

1. पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम् ।
   अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या ।।
   रूद्रट-काव्यालङ्कार-7/79

2. किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
   तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।। 10/119

अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम् । तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः । पृष्ठ 526

मम्मट-काव्यप्रकाश

प्रश्नोत्तर अलङ्कार

जिस अलङ्कार में किसी प्रश्न का उत्तर "व्यक्त ""अव्यक्त" अथवा "व्यक्ताव्यक्तरूप" से रहता है, उसे " प्रश्नोत्तर" अलङ्कार वाग्भट ने माना है ।[1]

प्रश्नोत्तरोदाहरणमाह-

> अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम् ।
> किं समालम्बनं साधो रागद्वेषपरिक्षयः ।।
>
> वाग्भट-4/144

इस अपार संसार सागर में डूबने वाले सज्जनों को कौन सा आश्रय है? अतः रागद्वेष आदि का नाश ही उनके लिए एकमात्र अवलम्बन है । इस प्रकार एक ही श्लोक में प्रश्न और इसका उत्तर स्पष्ट होने से यहाँ "व्यक्त" उत्तर वाला "प्रश्नोत्तर" अलङ्कार है ।

> क्व वसन्ति श्रियो नित्यं भूभुजां वद कोविद ।
> असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोह्यते ।। वाग्भट- 4/145

यहाँ "असौ" शब्द का अर्थ है, "वह" और "तलवार में" "असि" शब्द से सप्तमी विभक्ति लगाने पर "असौ"रूप बनता है । उत्तर देने वाले व्यक्ति का तात्पर्य है, कि राजाओं की लक्ष्मी तलवार में रहती है । किन्तु "असौ" शब्द का "वह" अर्थ होने से उत्तर यहाँसन्दिग्ध प्रतीत होता है । अतः यह गूढ प्रश्नयुक्त" "प्रश्नोत्तर अलङ्कार है ।

---

1. प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाप्यथवोभयम् ।

वाग्भट-4/143

किमिभ श्लाघ्यमाख्याति प्रक्षिप्तं कः कुतो यशः ।

गरुडः कीदृशो नित्यं दानवारिविराजितः ।। वाग्भट-4/146

इस श्लोक के चार प्रश्नों में किसी का उत्तर "स्पष्ट" है तथा किसी का "अस्पष्ट"। गरुड कैसा रहता है? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है, अर्थात "गरुड" दानवों के वैरी "विष्णु" से शोभित रहता है । किन्तु शेष तीन प्रश्नों का उत्तर गूढ है । अतः यहाँ "व्यक्ताव्यक्त प्रश्नोत्तर"अलङ्कार है ।

आचार्य रुद्रट और मम्मट ने इसे "उत्तर" अलङ्कार के नाम से स्वीकार किया किन्तु जयदेव[1] ने इस "उत्तर" अलङ्कार को "प्रश्नोत्तर" के नाम से अभिहित किया है । रुद्रट ने "उत्तर" अलङ्कार का विवेचन दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया है -- [1] वास्तव वर्ग में, [2] औपम्य वर्ग में।[2] आचार्य मम्मट ने उत्तर अलङ्कार के दो रूपों का वर्णन किया है । मम्मट के अनुसार उत्तर के श्रवणमात्र से जहाँ प्रश्न की कल्पना हो वहाँ "उत्तर" अलङ्कार है, अथवा प्रश्न

---

1. उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम् ।
   क्रियते तदुत्तरं स्यात् प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ।। 7/93

2. यत्र ज्ञातादन्यत् पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम् ।
   कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम् ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार-8/72

के उपस्थित होने पर जब अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाय तो वहाँ दूसरे प्रकार का उत्तर अलङ्•कार है तथा मम्मट ने इसे "काव्यलिङ्•" और "अनुमान" से भिन्न माना है।[1]

संङ्•र अलङ्•कार

जहाँ कई अलङ्•रों का सम्मिश्रण हो, वहाँ वाग्भट ने "संङ्•र" अलङ्•ार स्वीकार किया।[2]

उदाहरति--

> ब्रह्माण्डशुक्ति सम्पुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव।
> श्रीवाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य।। वाग्भट-4/147

ब्रह्माण्ड-सीपी में "रूपक" सोम में "श्लेष" श्री वाग्भट का वर्णन होने से "जाति" और कान्तिपुञ्ज के समान इस कथन से "उत्प्रेक्षा" अलङ्•ार है। अतः रूपक, श्लेष, जाति, और उत्प्रेक्षा इन सभी अलङ्•रों के सम्मिश्रणसे यहाँ "सङ्•र" नामक अलङ्•ार है। आचार्य उद्भट ने संकर नामक अलङ्•ार का विवेचनकिया है। उद्भट के अनुसार जहाँ एक से अधिक अलङ्•ार एक साथ ज्ञात होते हों, परन्तु सबका अस्तित्वअसंभव हो, और किसी एक को ग्रहण करने अथवा त्यागने का कोई आधार न हो, तो वहाँ सङ्•र नामक अलङ्•ार माना है[3] (1) संदेह सङ्•र (2) शब्दार्थवर्त्यलङ्•ार सङ्•र (3) शब्दाभिधान सङ्•र (4) अङ्•ागिभाव संङ्•र।

3 उद्भट ने चार प्रकार का संकर अलङ्•ार माना है।

---

1. उत्तर श्रुतिमात्रतः प्रश्नस्योन्नयन यत्र क्रियते तत्र वा सति।
असकृदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्। 10/121
(क) न चैतद् काव्यलिङ्•म् ** ** निर्देशादित्याकाङ्•क्षान्तरमेवोत्तरंसाधीयः।
(ख) प्रश्नादनन्तरं ** ** न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। पृ0 53।
मम्मट-काव्य प्रकाश

2. ब्रह्माण्डशुक्तिसम्पुटमौक्तिमणेः प्रभासमूह इव।
श्रीवाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य।। वाग्भट-4/147

3. अनेकाल क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्•रः। 15/62
उद्भट-काव्यालङ्•कार सार संग्रह -

अलङ्•कार का गुण से सम्बन्ध

काव्यशास्त्र के अलङ्•ार और गुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है । वाग्भट ने अलङ्•ार और गुण के सम्बन्ध को अलग से नहीं स्वीकार किया, किन्तु काव्य में "अलङ्•ार" और "गुण" दोनों को ही महत्वपूर्ण माना है । वाग्भट ने अलङ्•ार की श्रेष्ठता को स्पष्ट किया है, "अनर्थकत्वादि दोषों से रहित और औदार्यादि गुणों से युक्त काव्य कान्ताकामिनवत् शोभित् न होने के कारण त्याज्य होता है ।[1]

"अनुप्रास" अलङ्कार में "माधुर्य" गुण स्वभावोक्ति अलङ्कार में "अर्थव्यक्ति" गुण और "अतिशयोक्ति" अलङ्•ार "समाधि" गुण के समान है । अत: इन अलङ्•ार के लक्षण इन गुणों के समान है "अनुप्रास[1] अलङ्•ार" में "माधुर्य[2]" गुण की प्रतीति का कारण है- शब्दालङ्•ार "अनुप्रास" अलङ्•ार में समान सुनाई देने वाले अक्षरों की बार-बार आवृत्ति होने से माधुर्यादि गुणों की प्रतीति होती है ।

1• दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वच: ।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ।।1

4/1-वाग्भट

2• तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिर ...नुप्रास: स्फुरद्गुण: ।
अतत्पद: स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च स: ।।

4/17 वाग्भट

3• सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।

3/15-वाग्भट

"स्वभावोक्ति अलङ्कार" का लक्षण "अर्थव्यक्ति" गुण के समान है। "चेतन या जड़ पदार्थों के स्वभाव कथन को "स्वभावोक्ति" अलङ्कार माना है।[1] "अर्थव्यक्ति गुण का लक्षण है-जहाँ अर्थ को समझने में किसी तरह का विघ्न नहीं रहता।[2] "अतिशयोक्ति" अलङ्कार का लक्षण "समाधि" गुण के समान है। "वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए जहाँ किसी असम्भव अर्थ का वर्णन किया जाता है वहाँ "अतिशय" नामक अलङ्कार है।[3] समाधि गुण का लक्षण है-"जहाँपर एक वस्तु के गुण का आधान अन्य वस्तु के साथ किया जाता है।[4]

अन्य आचार्यों ने भी अलङ्कार और गुण की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है। आचार्य दण्डी ने काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी तत्वों को सामान्यत: अलङ्कार माना है।[5]

---

1. स्वभावोक्ति: पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा।
   जातिविशिष्टतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥ 4/47
   वाग्भट

2. यदशेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा।
   स्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा ॥
   3/8-वाग्भट

3. वस्तुनो वक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते।
   वदन्त्यतिशयाख्यं तमलङ्कारं बुधा यथा ॥ 4/101
   वाग्भट

4. स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते।
   यथाब्धिरारेस्त्री-ि राज्ञः पल्लवितं यशः ॥ 3/11
   वाग्भट

5. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।

दण्डी के अनुसार गुण, अलङ्•ार, वृत्ति आदि काव्य के सभी तत्व अलङ्•ार हैं। दण्डी ने स्वभावाख्यान उपमा आदि अलङ्•ारों को साधारण अलङ्•ार तथा श्लेष, प्रसाद आदि गुण को प्रकारान्तर से असाधारण अलङ्•ार मानते हुए इन्हें अभिष्ट "वैदर्भ-मार्ग का "प्राण" स्वीकार किया है।[1] वामन ने अलङ्•ार के व्यापक अर्थ में काव्य सौन्दर्य के सभी उपादान को अलङ्•ार माना है। इस दृष्टि से गुण भी अलङ्•ार है और अलङ्•ार की सत्ता से काव्य ग्राह्य होता है।[2] वामन ने गुण और अलङ्•ार का भेद निरूपण इस प्रकार से किया है, "काव्य की शोभा हेतुभूत धर्म गुण है।[3] अलङ्•ार काव्य की शोभा के वृद्धि करने वाले धर्म हैं।[4] गुण से काव्य में सौन्दर्य आता है तथा अलङ्•ार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करते अपितु काव्य में शोभा के रहने पर उसकी वृद्धि मात्र करते हैं। अतः गुण काव्य के 'नित्य' धर्म हैं।[5] तथा अलङ्•ार काव्य के 'अनित्य' धर्म है। वामन के अनुसार गुण और अलङ्•ार में "साम्य" यह है, कि दोनों ही शब्दार्थ के धर्म है तथा ये काव्य में उत्कर्ष का आधान करते हैं। गुण और अलङ्•ारमें "वैषम्य" यह है

---

1. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
   साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ।। 2/3-दण्डी-काव्यादर्श

2. काव्यं ग्राह्यम् अलङ•ारात्। 1/1/1
   वामन-काव्यालङ्•ार सूत्र वृत्ति

3. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। 3/1/1

4. तदतिशयहेतवस्त्वलङ्•ाराः। 3/1/2

5. पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणा नित्याः।
   तैर्विना काव्यशोभानुपपत्ते। 3/1/3

   वामन-काव्यालङ्•ार सूत्र वृत्ति

कि काव्य में शोभा गुण के कारण होती है, जबकि अलङ्कार से शोभा-वृद्धि होती है। गुण शब्द एवं अर्थ के "नित्य" धर्म है, जबकि अलङ्कार "अनित्य" धर्म है। आचार्य मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने गुण को शोभा जनक नहीं अपितु उत्कर्ष हेतु तथा रसाश्रित स्वीकार किया है तथा अलङ्कार को अनित्य माना है इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलङ्कार को शब्दार्थ का "अनित्य" शोभाधायक और "रसादि" का उपकारक तत्व माना है।

अलङ्कार का रस से सम्बन्ध

आचार्य वाग्भट ने अलङ्कार का सम्बन्ध रस के साथ नहीं किया और न ही भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों की भाँति रसवद्, प्रेय, उर्जस्वी और समाहित अलङ्कार को स्वीकार किया है। किन्तु रसवदादि अलङ्कारों की मान्यता भामह से लेकर रुय्यक तक मानी जाती है। भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने अलङ्कार और रस के सम्बन्ध को इस प्रकार से स्वीकार किया है- रस- रसवद् अलङ्कार में, भाव-प्रेयस्वद् अलङ्कार में, रसाभास एवं भावाभास- उर्जस्वित् एवं समाहित अलङ्कार में, भावशान्ति-द्वितीय उदात्त अलङ्कारों के रूप में निरूपित किया है।

अलङ्कारवादियों के अनुसार अलङ्कार शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं, जो रसादि को अपनी स्वरूप प्रक्रिया में ही स्वीकार करते हैं और उन्हें अपना उपजीवी घोषित करते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ रस प्रधान होता है, वहाँ इसकी संज्ञा रस है। जहाँ वह गौण अर्थात् अप्रधान होता है वही रसवद् आदि अलङ्कारों का विषय है, जिन्हें ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य स्वीकार किया है।[1] अतः अलङ्कारवादियों के अनुसार रस का जिस किसी रूप में निरूपण है, वह सभी रसवद् अलङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार किया है। आचार्य भामह यह स्वीकार करते हैं-

"रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादि रस यथा।"

भामह-काव्यालङ्कार 3/6

---

1. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
   काव्ये तस्मिन्नलंकारो रस दिति मे मतिः॥ 2/5

आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक

जहाँ श्रृङ्गारादि रस का स्पष्टीकरण है, वहाँ रसवत् अलङ्कार स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी ने भी रस-पेशल वर्णन को रसवत् अलङ्कार की संज्ञा प्रदान की है।[1] रस की पेशलता उसके अप्रधानता में कभी भी सन्निहित नहीं हो सकती। आचार्य उद्भट ने भी रसवद् आदि के अलङ्कार होने का निरूपण अपनी कृति "काव्यालङ्कार सार संग्रह में स्वीकार किया है। "श्रृङ्गार" आदि रसों का जहाँ स्पष्ट रूप से निदर्शन हो, वहाँ रसवद् अलङ्कार है। इसकी प्रतीति पांच प्रकार से है- स्वशब्द अर्थात् उसके लिए प्रयुक्त श्रृङ्गार आदि शब्दों से, रत्यादि स्थायि एवं निर्वेदादि संचारी भावों के द्वारा, आलम्बनोद्दीपन विभाव के तथा अभिनय से।[2] आचार्य आनन्दवर्धन ने रस का श्रृङ्गार आदि शब्दों से निरूपण सदोष स्वीकार करते हुए यह कथन किया है, कि स्व शब्द से निवेदित होने मात्र से रस की निष्पत्ति नहीं स्वीकार की जा सकती, अपितु रस या श्रृङ्गारादि शब्दों के द्वारा अभिधान न होने पर भी विभावादि के संयोजन मात्र से रस की निष्पत्ति हो जाती है।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार तो स्व शब्द से नहीं अपितु विभावादि का भी नामतः उपादान करने से काव्य के रसास्वाद में बाधा पहुँचती है। अतः

---

1. रसवद्रसपेशलम्। 2/275 दण्डी-काव्यादर्श

2. रसवद्दर्शितस्पष्ट-श्रृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ 4/3
उद्भट-काव्यालङ्कार सार संग्रह।

3. नहि केवल श्रृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि.........../
काव्ये मनागपि रसवत्त्व प्रतीतिरस्ति॥ 9/4
आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक

इसकी गणना रस दोषों में स्वीकार किया है ।[1] आचार्य भोज ने भी अलङ्कारों को 3 वर्गों में स्वीकार किया है । वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति ।[2] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अलङ्कार और रस का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है । काव्य में जिस किसी भी प्रकार से चमत्कार का आधान होता है, वह सभी अलङ्कार स्वीकार किया गया है । अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है । वामन के अनुसार "सौन्दर्यमलङ्कार ।" 1/1/2 वा0,का0,सू,वृ0 आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार "सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैः अलङ्काराः प्रकाशिता. प्रकाश्यन्ते च ।[3] रस भी काव्य का एक महनीय तत्त्व है । जिससे काव्य में चारुता का आधान होता है । अतः इसे अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा समुचित है । यही कारण है कि अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों ने ध्वनि की सत्ता स्वीकार करते हुए भी रसवद् आदि अलङ्कार के रूप में ही निरूपण किया है ।

---

1. व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवाच्यता ।

मम्मट-काव्यप्रकाश-7/60

2. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरीति ।
तत्रोपमाद्यलङ्कारप्रधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्रधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानुभावव्यभिचारी संयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति ।। 7/371-72

भोज-शृङ्गार प्रकाश

3. ध्वन्यालोक 1/1 पर वृत्ति । — आनन्दवर्धन

अलङ्कार का दोष से सम्बन्ध

काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने दोष की व्याख्या की है। वाग्भट, भामह, दण्डी आदि विभिन्न आचार्यों ने अलङ्कार दोषों के निरूपण के अवसर पर केवल "उपमा" अलङ्कारगत दोषों का विवेचन करते हैं। आचार्य वाग्भट ने "उपमा" अलङ्कार के निरूपण के अनन्तर उपमा अलङ्कार के दोषों का उदाहरणोपन्यास पूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है। वाग्भट के अनुसार उपमान एवं उपमेय का लिङ्गभेद, वचन भेद, उपमान का हीन होना अथवा "उपमान का आधिक्य" ये चार उपमा अलङ्कार के दोष हैं। यहाँ पर इन्होंने "लिङ्गभेद" को कुछ स्थानों पर दोष न मानने का भी उल्लेख किया है, इस बात को इन्होंने अन्य आचार्यों का अभिमत बताया है। आचार्य वाग्भट ने चार उपमा दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

> हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः।
>
> ध्वाङ्क्षस्येव च दाक्ष्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम्॥
>
> वाग्भट– 4/59

"हिममिव कीर्तिर्धवला" इस अंश में लिङ्गभेद" नामक उपमा दोष प्रस्तुत किया गया है, इसका अभिप्राय है– "हे नृप तुम्हारी कीर्ति हिम के समान स्वच्छ या शुभ्र है। यहाँ पर "कीर्ति" उपमेय तथा "स्त्रीलिङ्ग" है जबकि "हिममिव" यह उपमान "नपुंसक लिङ्ग" में प्रयुक्त है। अतः उपमान और उपमेय में स्पष्ट रूप से "लिङ्ग भेद" प्रस्तुत होने से यह "लिङ्ग" भेद नामक "उपमा दोष" का स्थल है।

"चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः" इस अंश में आचार्य वाग्भट ने "वचन भेद" नामक "उपमा दोष" को प्रस्तुत किया है, इसका अभिप्राय है,"वाणी चन्द्रकला" के समान अत्यधिक निर्मल है । यहाँ पर वाणी उपमेय है एवं बहुवचन में प्रयुक्त है,जबकि उपमानभूत चन्द्रकला शब्द एकवचन में प्रयुक्त है । अतः यह "वचन भेद" नामक उपमा दोष का उपयुक्त उदाहरण है । इसके अनन्तर वाग्भट ने "उपमा-हीनता" से होने वाले दोष का उदाहरण प्रस्तुत किया है—
"ध्वाङ्क्षस्येव च दाक्ष्यम्" अर्थात् तुम्हारी दक्षता कौवे के समान है । यहाँ पर उपमानभूत ध्वाङ्क्ष (कौवा) उपमेय रूप राजा की चातुरी से अत्यधिक हीन बताया गया है । अतः यह "उपमान की हीनता" नामक दोष का उचित उदाहरण है ।

चतुर्थ उपमा दोष के उदाहरण के रूप में यह अंश प्रस्तुत किया गया है—
"नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ।" अर्थात् तुम्हारा वक्षस्थल आकाश के समान फैला हुआ है । अतः यहाँ पर "वक्षस्थल" उपमेय है एवं "नभ" उपमान है । वक्ष की अपेक्षा उपमाभूत नभ को अत्यधिक विशाल बताने के कारण "उपमान की अधिकता" का उपमादोष है ।

अन्य उपमा दोषों का विवरण इस प्रकार है—

"शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।
खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ।।

वाग्भट- 4/60

यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में "उपमेय भूत कुक्कुरी से "उपमानभूत गृहदेवी" श्रेष्ठ है और उत्तरार्द्ध में "उपमेय रूप प्रताप" से "उपमान रूप खद्योत हीन" है ।

हीनविशेषणत्वमेयोपमानुपमानोपमा माह--

सफेनपिण्ड: प्रौढोर्मिरब्धि: शाङ्र्गीव शङ्खभृत् ।

श्चोतन्मद: करी वर्षन्विद्युत्वानिव वारिद: ।। वाग्भट- 4/61

श्लोक के पूर्वार्द्ध में "समुद्र" उपमेय है और विष्णु भगवान उपमान यहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय के लिए अधिक विशेषणों का प्रयोग किया गया है । उत्तरार्द्ध में "हाथी" उपमेय है और "मेघ" उपमान यहाँ पर उपमेय की अपेक्षा उपमान के लिए अधिक विशेषणों का प्रयोग हुआ है ।

निजजीवितेशकरजाग्रकृतक्षतपङ्क्तय: शुशुभिरे सुरते ।

कुपितस्मरप्रहितवाणगणव्रणजर्जरा इव सरोजदृश: ।।

वाग्भट - 4/63

इस श्लोक में प्राणेश के "नखक्षत की पंक्तियाँ स्त्रीलिङ्ग" है, किन्तु उनका उपमान कामदेव के वाण से "जर्जरित शरीर पुल्लिङ्ग" है । अत: यहाँ पर उपमेय और उपमान में "लिङ्गभेद" होने पर भी दोष नहीं मानते क्योंकि यह "समस्तपद" का उदाहरण है ।

आचार्य भामह ने हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद, वचन भेद, विपर्यय, उपमाधिकता और असदृशता इन सात उपमालङ्कार के दोषों को मान्यता प्रदान की है ।[1]

---

1. हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्यय: ।
   उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च । 39
   त एत उपमादोषा: सप्त मेधाविनोदिता: ।
   सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक् ।। 40

भामह-काव्यालङ्कार-

इसके अनुसार दण्डी केवल चार उपमा दोष मानते हैं ।[1] इसके साथ ही इन्होंने केवल अलङ्कार दोषों को दोष मानने का मुख्य आधार उनका सहृदयों के लिए उद्वेजनक होना स्वीकार किया है । वामन ने "विपर्यय" नामक अलङ्कार दोष के अतिरिक्त भामह सम्मत समस्त छः दोषों को अङ्गीकार किया है । इन्होंने "विपर्यय" नामक उपमादोष का अन्तर्भाव उपमान की "हीनता" या "अधिकता" दोषों में ही प्रतिपादित किया है, क्योंकि विपर्यय नामक दोष भी उपमान की अपेक्षा उपमेय में हीनता अथवा अधिकता का होना ही है । जहाँ उपमान में आधिक्य होगा वहाँ उपमेय में हीनता अवश्य रहेगी एवं जहाँ उपमान में हीनता होगी वहाँ उपमेय में आधिक्य अवश्य होगा, इस प्रकार विपर्यय दोष का हीनता एवं आधिक्य दोषों में अन्तर्भाव हो जाने के कारण इसका पृथक् परिगणन असङ्गत है, तथा इसे दोष नहीं माना है ।

आचार्य रुद्रट ने उपमा के केवल चार दोष स्वीकार किये हैं--सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धी ।[2]

---

1. न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।।

दण्डी-काव्यादर्श - 2/51

2. सामान्य शब्द भेदो वैषमयसंभवोऽप्रसिद्धिश्च ।
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमाया: ।।

रुद्रट-काव्यालङ्कार - 11/24

काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु ने भामह को अभिमत समस्त उपमा दोषों का इन्हीं चार दोषों में अन्तर्भाव प्रस्तुत किया है ।

भोज ने भी "वाक्यगत" एवं "वाक्यार्थगत" दोषो के अन्तर्गत प्राचीन आचार्यों को अभिमत छः उपमा दोषों का परिगणन किया है । यहाँ पर इनकी अपनी मौलिकता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है । इन आचार्यों की परम्परा से हटकर मम्मट ने उपमा दोषों तथा अन्य अलङ्कार दोषों का उल्लेख करते हु भी इन दोषों का अन्तर्भाव पद,वाक्यादि दोषो में प्रतिपादित किया है । विश्वनाथ ने मम्मट को धारणा को स्वीकार किया है ।

रीति सिद्धान्त

गत्यर्थक रीङ् धातु मे क्तिन् प्रत्यय लगने पर रीति शब्द की निष्पत्ति हुई रीति शब्द की व्युत्पत्ति है "रीयते गम्यते5नेनेति रीति " अर्थात् मार्ग जिसके द्वारा गमन किया जाए काव्यशास्त्र में रीति से तात्पर्य है काव्य सरणि, काव्य मार्ग, काव्य पथ, काव्य वर्त्म आदि । ऋग्वेद में रीति पद का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, इसका अर्थ है 'गमन' या 'मार्ग' यथा" अहीवरीति शव सासरत् पृथक्"[1] "वातेवाजुर्या नद्येव रीति. "तामस्यरीतिपरश्वोरिव स्थानों पर रीति पद का प्रयोग गति, धारा और मार्ग के अर्थ में हुआ है, वैदिक साहित्य में भी रीति पद का प्रयोग इन्हीं अर्थों में दृष्टिगोचर होता है ।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित जो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें वामन का "काव्यालङ्कार सूत्र" ही प्रथम ग्रंथ है, जिनमें काव्यगत रीति की स्पष्ट व्याख्या की गई है । यद्यपि रीति सम्प्रदाय की स्थापना तो 8वीं शताब्दी के मध्य या उसके आस पास आचार्य वामन द्वारा हुई, तथापि रीति का अस्तित्व वामन से पूर्व निश्चित रूप से विद्यमान था इसमें संदेह नहीं । वामन से पूर्व आचार्य भामह, दण्डी ने भी इस ओर संकेत किया है, इन्होंने 'रीति' पद का प्रयोग न करके 'मार्ग' पद को ही स्वीकार किया है । इसके पूर्व भरत ने "प्रवृत्ति" पद का प्रयोग किया है, आचार्य उद्भट ने "वृत्ति" माना है । आचार्य वाग्भट, रूद्रट, राजशेखर, अग्निपुराणकार तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों

ने "रीति" और आनन्दवर्धन ने "संघटना" भोज ने "पन्थ" "मार्ग" तथा इसे रीति स्वीकार किया है। आचार्य कुन्तक ने "मार्ग" तथा मम्मट और जगन्नाथ ने "वृत्ति" और रीति दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है।

आचार्य वाग्भट ने रीति का लक्षण और स्वरूपविवेचन नहीं किया, किन्तु दण्डी और वामन की परिभाषाओं से इनके विचार भिन्न नहीं हैं, आचार्य वाग्भट ने "वैदर्भी" और "गौडी" दो रीतियों को स्वीकार किया है। गौडी रीति "समास बहुला" तथा वैदर्भी रीति "अल्पसमास" युक्त स्वीकार किया है।[1] आचार्य वामन ही रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता व लक्षणकर्त्ता हैं। रीति के स्वरूप का प्रथम निरूपण करके काव्यशास्त्र में एक क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात किया है। आचार्य वामन ने विशिष्ट पद-रचना को रीति स्वीकार किया है।[2] "विशिष्ट" का अर्थ वामन ने विशिष्ट गुणों से सम्पन्न माना है, अर्थात् गुणरूप ही विशेष है।[3] वामन के बाद अन्य आचार्यों ने भी रीति का लक्षण अथवा स्वरूप निरूपण किया है। आनन्दवर्धन

---

1. द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे।
   एका भूय. समासा स्यादसमस्तपदापरा ।।
   4/149-वाग्भट

2. विशिष्टा पदरचना रीति. । 1,2,7-
   वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि

3. विशेषो गुणात्मा । 1,2,8-वामन- काव्यालङ्कारसूत्राणि

के अनुसार सम्यक् अर्थात् यथोचित घटना पदरचना का नाम "संघटना" अथवा रीति है। आचार्य वामन ने पद-रचना को शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त (गुणात्मक) माना है। आनन्दवर्धन ने उसके लिए सम्यक् (यथोचित) विशेषणों का प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के समक्ष रस का मानदण्ड था, इसलिए सम्यक् यथोचित शब्द का ही प्रयोग किया है। आचार्य वामन ने शब्द और अर्थगत सौन्दर्य को विशेषण स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के सिद्धान्तानुसार रीति 'रसाश्रयी' है, तथा रीति रस रूप सौन्दर्य की साधना है। संघटना को "समास" से सम्बद्ध मानकर इसके 3 रूप स्वीकार किये हैं, असमासा, अल्पसमासा और दीर्घ समासा।[1] आनन्दवर्धन के अनुसार 'संघटना' का कार्य है, गुणों के आश्रित रहकर रस को व्यक्त करना।[2] आचार्य भोज ने रीति की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा स्वीकार की है अर्थात् वैदर्भादि पन्था (पथ) काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रीङ् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है।[3]

---

1. असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता
   तथा दीर्घ समासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।
   आनन्दवर्धन, ध्वन्या0 3,5 पृ0 309

2. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा । रसान् --- 3/5-
   ध्वन्यालोक- आनन्द वर्धन

3. वैदर्भादिकृत पन्था. काव्ये मार्ग इति स्मृत
   रीङ् गताविति धातो. सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते । 2/27-
   भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण

इस प्रकार भोज ने मार्ग, पन्था या पथ और रीति के व्युत्पत्ति अर्थ में पर्याय सिद्ध करते हुए तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित की है। भोज के अनुसार रीति का अर्थ है "कवि गमन" मार्ग आचार्य कुन्तक ने इसे "कवि प्रस्थान हेतु' स्वीकार किया है।[1] अर्थात् रीति या निर्णायक आधार कवि स्वभाव ही है। आचार्य राजशेखर ने वचन विन्यास क्रम को रीति कहा है।[2] इस प्रकार स रीति की परिभाषा को स्वीकार किया है, जो वामन की परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है, केवल शब्दों का ही अन्तर है, अर्थात "वचन" का अर्थ है "शब्द" या "पद" और विन्यास क्रम का अर्थ है "रचना"।

आचार्य मम्मट ने रीति की स्वीकृत परिभाषा में थोड़ा अंतर किया है, उन्होंने उपनागरिका, परुषा, कोमला वृत्तियों का ही विवेचन किया है, लेकिन अंत में स्पष्ट कर दिया है, कि इन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीति स्वीकार किया है।[3] मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही वृत्ति है।[4]

---

1. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थान हेतव. ।
   सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मक ।।
   कुन्तक व०जी० 1.24

2. वचन विन्यास क्रमो रीतिः । पृ० 22
   -राजशेखर- काव्यमीमांसा

3. एतास्तिस्त्रो वृत्तयो वामनादीनां
   वैदर्भीगौडीपांचाल्याख्या मते ।
   रीतयो मताः । 9/110 मम्मट -काव्य प्रकाश

4. वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार. । 9/104
   काव्य प्रकाश -मम्मट

मम्मट के अनुसार ﴾1﴿ रीति ﴾वृत्ति﴿ नियत वर्ण व्यापार है अर्थात् रीति "वर्ण सगुम्फन" का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं । मम्मट ने मूलतः समास को रीति का वाहक नहीं माना है, वर्ण गुम्फन को ही स्वीकार किया है । मम्मट ने वर्ण गुम्फन का गुण के साथ नियत संबंध माना है । प्रत्येक गुण के अनुसार ही वर्णों का सगुम्फन होता है और उसी गुण के अनुसार ही रीति का स्वरूप भी निश्चित होता है- अर्थात् गुण शब्द "गुम्फ" और "रीति" दोनों के ही नियामक होते हैं और अंत में उन्हीं के माध्यम से रीति﴾वृत्ति﴿ रस की अभिव्यंजना में सहायता देती हुई काव्य में अपनी सार्थकता सिद्ध करती है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पदों की संघटना का नाम "रीति" है, वह अङ्ग संस्थान ﴾शरीर-गठन﴿ की भाँति है और काव्य के आत्मरूप रसादि का उत्कर्ष वर्धन करती है, जिस प्रकार शरीर का गठन वाह्य होते हुए भी मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व आत्मा का उत्कर्षवर्धन करती है, उसी प्रकार सम्यक् पद संघटना बाह्य अवयव होते हुए भी काव्यात्मभूत रस का उपकार करती है ।[1]

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि परिभाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं है । वामन के निर्देशानुसार गुण के साथ रीति का "नित्य" संबंध है अंतर केवल यह है, कि वामन आदि आचार्यों ने जहाँ शब्द और अर्थ के शोभाकारत्व धर्मों

---

1. पदसङ्घटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् उपकर्त्री रसादीनाम् ।।

विश्वनाथ-- साहित्य दर्पण

के रूप में गुण को और उनसे अभिन्न रीति को अपने आप में सिद्धी माना है, वहाँ आनन्दवर्धन तथा परवर्ती आचार्यों ने गुण को रस का धर्म स्वीकार किया है और उनके अनुसार 'रीति' 'शब्द' और 'अर्थ' के आश्रित रचना के चमत्कार का नाम है, जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाने में साधक रूप से सहायक होती है।

परिभाषा के उपरान्त आचार्यों ने रीति की संख्या का निर्धारण भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। आचार्य वाग्भट ने 'वैदर्भी' और 'गौडी' दो रीतियों को स्वीकार किया है।[1] भामह और दण्डी[2] ने वैदर्भी तथा गौडी रीति, आचार्य वामन[3] ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली इन तीन रीतियों को स्वीकार किया है। रूद्रट, अग्निपुराणकार और विश्वनाथ ने वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटीया इन चार रीतियों को स्वीकार किया है।[4] भोजराज ने वैदर्भी, गौडी पांचाली, लाटीया, आवन्तिका और मागधी छः रीतियों को माना है।[5] आचार्य आनन्दवर्धन ने असमासा, मध्यमसमासा, दीर्घसमासा, कुन्तक के अनुसार

---

1. द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी वेति सान्तरे ।।
   - 4/149-वाग्भट
2. अस्त्यनेको गिरा मार्ग. सूक्ष्मभेद: परस्परम्, तत्र वैदर्भगौडीयो वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ।। दण्डी-काव्यादर्श- 1/40
3. सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पांचाली चेति ।
   -वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि-1,2,9
4. .... सा पुन. स्याच्चतुर्विधा । वैदर्भी चाथ गौडीया च पांचाली लाटिका तथा ।। 9/1-2।।-विश्वनाथ-साहित्यदर्पण
5. वैदर्भी साथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा ।
   लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिनिगद्यते ।। भोज-सरस्वतीकण्ठाभरण-2/28

सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग है । उद्भट और मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला {ग्राम्या} को वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों का पर्याय स्वीकार किया है ।

रीति की संख्या का निर्धारणकरने के उपरान्त आचार्यों ने रीति का विवेचन निम्न प्रकार से स्वीकार किया है -- आचार्य वाग्भट ने वैदर्भी और गौडी रीतियों को स्वीकार करते हुए इनका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार से प्रस्तुत किया है -- गौडी रीति में समास की बहुलता तथा वैदर्भी रीति में समस्त पदों की संख्या न्यून तथा अल्पसमासयुक्त पदों की रचना को वैदर्भी रीति स्वीकार किया है ।[1] आचार्य वाग्भट ने गौडी रीति को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है --

> दर्पोत्पादितलुङ्ग·पर्वतशतग्रावप्रपाताहति -
>
> क्रूराक्रन्ददतुच्छकच्छपकुलक्रेङ्कारघोरीकृत: ।
>
> विश्वं वर्वशवच्यमानपयस: शिप्रापगाया. स्फुर-
>
> न्नाक्राम त्ययमक्रमेण बहुल कल्लोल कोलाहल. ।
>
> 4/150 वाग्भट

अत. इस पद्य में दीर्घ समास युक्त होने के कारण गौडी रीति है । आचार्य दण्डी

---

1. द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।
   एका भूय: समासा स्यादसमस्तपदापरा ।।4/149 वाग्भट

के अनुसार श्लेष, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण जो वैदर्भी रीति के प्राण हैं इनका 'विपर्यय' ही 'गौडी' रीति है ।[1] आचार्य वामन के अनुसार गौडी रीति भी वैदर्भी रीति के समान सुन्दर एवं आह्लादक है, इसमें 'ओज' और 'कान्ति' गुणों की प्रधानता है । समासबहुलता तथा उल्बण पदों का प्राचुर्य रहता है । इस प्रकार ओज और कान्ति गुणों के आधिक्य के कारण गौडी रीति में ओजस्विता का सचार होता है।[2] आचार्य भामह ने गौडी रीति को हेय नहीं माना, अपितु वैदर्भी और गौडी दोनों ही रीतियों को समान {महत्वशाली} स्वीकार किया है तथा गौडी रीति में अलङ्कारवत्ता, ग्राम्यदोष रहितता आदि गुण, को गौडी रीति के काव्य में माना है ।आचार्य रूद्रट ने गौडी रीति को दीर्घसमास से युक्त माना है, जो रौद्र, भयानक, वीर आदि दीप्त रसों की अभिव्यजना के लिए उपयुक्त है । आचार्य भोज ने गौडी रीति को अति दीर्घ समास से युक्त, परिस्फुटबन्ध सयुक्त, अनति उपचार वृत्ति तथा योगरूढ़ शब्दावली से परिपूर्ण माना है ।[3] राजशेखर के अनुसार दीर्घ समास वाली,

---

1. अस्त्यनेको गिरा मार्ग सूक्ष्मभेद परस्परम् तत्र वैदर्भगौडोयो वर्ण्यते प्रस्फुटन्तरौ
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा. स्मृता. एषा विपर्यय. प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।
--दण्डी काव्यादर्श ।,40,42

2. ओज. कान्तिमती गौडीया । 1,2,12
वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि

3. समस्तात्युद्भटपदामोज: कान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयेति विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणा. ।। 2/3।
भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

सानुप्रास तथा योग वृत्ति-सम्पन्न गौडी रीति है ।[1] आचार्य मम्मट ने "परुषा वृत्ति " अर्थात् "गौडी रीति" को ओज के प्रकाश वर्णों से युक्त स्वीकार किया है ।[2] आचार्य विश्वनाथ ने भी ओज गुण के अभिव्यजक वर्णों से युक्त तथा दीर्घ समासवाली रचना को गौडी रीति स्वीकार किया है ।[3] अत. उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि दीर्घसमास तथा ओज गुण से युक्त रचना को आचार्यों ने गौडी रीति स्वीकार किया है ।

"गौडी' के विपरीत "वैदर्भी" रीति होती है । आचार्य वाग्भट के अनुसार वैदर्भी रीति में समस्त पदों की संख्या न्यून अथवा नहीं होती है, अर्थात् अल्पसमास युक्त रचना को वैदर्भी रीति स्वीकार किया है ।[4] आचार्य वाग्भट ने वैदर्भी रीति का लक्षण इस प्रकार से किया है — उदाहरण—

विप्रा प्रकृत्यैव भवन्ति लोला लोकोक्तिरेषा
न मृषा कदाचित् ।
यच्चुम्ब्यमानां मधुपैर्द्विजेश श्लिष्यत्यय
कैरविणी कराग्रैः ।। 4/15। वाग्भट

1· तथाविधाकल्पयापि तथा यदऽवशवदीकृत.
समासवदनुप्रासवद्योगवृत्ति परम्परागर्भं जगाद सा गौडीया रीति. ।
राजशेखर-काव्य मीमांसा- तृतीय अध्याय पृ0 20

2· ओज प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा । ।08 -मम्मट -काव्यप्रकाश

3· ओज. प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर. पुन. समास बहुला गौडी ।
-साहित्य दर्पण-9/3/4 -विश्वनाथ

4· द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।
एका भूय. समासा स्यादसमस्तपदापरा ।। 4/149-वाग्भट

यहाँ पर समास न होने के कारण वैदर्भी रीति है ।

वैदर्भी रीति माधुर्य गुण पर अवलम्बित रहती है,इसमें माधुर्य गुण,सुकुमार वर्णों,असमासा या मध्यमसमासा तथा सौकुमार्यवती रचना का एकत्र योग होता है । कुछ आचार्यों ने इसे सर्व श्रेष्ठ रीति स्वीकार किया है । आचार्य दण्डी और वामन ने तो इसे सर्व श्रेष्ठ रीति स्वीकार किया है, आचार्य दण्डी ने वैदर्भी रीति को दस गुणों श्लेष,प्रसाद,समता माधुर्य आदि का प्राण स्वीकार किया है । गौडी रीति को काव्य का निकृष्ट शैली मानता है । आचार्य वामन ने वैदर्भी रीति को सर्वश्रेष्ठ रीति स्वीकार किया है,क्योंकि इसमें सभी गुण विद्यमान रहते है ।[1] आचार्य वामन के शब्दों में काव्य की आत्मा "रीति" और रीति की आत्मा "वैदर्भी" {रीति} है । आचार्य वामन ने इस पद्य में—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं ।
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।।
विस्रब्धं कुरुतां वराहवितति र्मुस्ताक्षतिं पल्वले ।
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।।

{काव्यालङ्कार सूत्राणि 1.2.11}
{अभिज्ञान 2,6}

दस गुणों की विद्यमानता के कारण उक्त पद्य में वैदर्भी रीति है,ऐसा स्वीकार किया है । आचार्य रुद्रट के अनुसार असमासवती वृत्ति की एक ही रीति है "वैदर्भी

---

1. समग्रगुणा वैदर्भी । 1.2.11 वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि
तासां पूर्वा ग्राह्या गुण साकल्यात् । 1.2.14
न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् । 1.2.15. 1. वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि

इसमें "नामों" का तो समास नहीं होता और अर्थ विशिष्टता के लिए क्रियापदों का उपसर्गों से जो योग होता है, उसे समास नहीं स्वीकार किया है ।[1] आचार्य राजशेखर ने वैदर्भी रीति को ही सर्वश्रेष्ठ रीति स्वीकार किया है तथा अनुप्रासयुक्त समास-रहित और योग वृत्ति (अभिधा-वृत्ति) पूर्ण जो भाषण किया उसका नाम "वैदर्भी रीति" है ।[2] राजशेखर के काव्य-पुरुष और साहित्य विद्यावधू का विदर्भ देश के वत्स गुल्म नामक प्रसिद्ध स्थान में पाणिग्रहण संस्कार कराते हुए अपनी कल्पित कथा का सुन्दर उपसंहार किया है । आचार्य भोज के अनुसार, समास रहित, श्लेष आदि सम्पूर्ण गुणों से समन्वित तथा वीणा ध्वनि की भाँति श्रुतसुखद वैदर्भी रीति को स्वीकार किया है ।[3]

महाकवि कालीदास तथा श्रीहर्ष आदि की अत्यधिक लोकप्रियता का कारण उनकी वैदर्भी रीति की रचना है । अत. इस शैली की रचना भाग्यशाली कवियों को ही प्राप्त होती है । आचार्य मम्मट, आनन्दवर्धन और विश्वनाथ के अनुसार यह वैदर्भी रीति श्रृंगार, करुण जैसे सुकोमल रसों की बाह्य रूपात्मिका है, इसे मम्मट ने "उपनागरिका वृत्ति" स्वीकार किया है ।

---

1. आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
   वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ।। 2.6 -रूद्रट-काव्यालङ्कार

2. यदत्यर्थं च स तया वशंवदीकृत. स्थानानुप्रासवदसमासं योगवृत्तिगर्भञ्जगाद सा वैदर्भी रीतिः । पृ० 22-काव्यमीमांसा-राजशेखर

3. तत्रासमासा निःशेषश्लेषादिगुणगुम्फिता ।
   विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। 2/29
   भोज-सरस्वती-कण्ठाभरण

अत. उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'वैदर्भी' रीति सभी रीतियों में सर्वश्रेष्ठ है ।

रीति और गुण का सम्बन्ध

रीति का काव्य में गुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । गुण रीतियों के विधायक हैं, गुण से पृथक रीति की सत्ता नहीं है, अत. रीतियाँ गुणों पर ही अवलम्बित हैं । इस प्रकार से रीति गुणाश्रित है ।

आचार्य वाग्भट के रीति और गुण सम्बन्धी विचार प्राचीन आचार्यों (दण्डी, वामन) की भाँति है, वाग्भट ने रीति को गुणाश्रित स्वीकार किया है अर्थात् रीतियों का सबंध गुणों से है । उन्होंने 'वैदर्भी' और 'गौडी' दो रीतियों को स्वीकार किया है । 'अल्प समास' युक्त को 'वैदर्भी' रीति तथा 'दीर्घ समास' युक्त गौडी' रीति का लक्षण स्वीकार किया है । 'गौडी' में 'ओज' और 'कान्ति' गुणों का समावेश है, वैदर्भी में सभी गुण को स्वीकार किया है । समास की अधिकता 'गौडी' रीति[1] और समाज बहुला पदावली से 'ओज गुण' उत्पन्न होता है[2], अत. दोनों का ही लक्षण एक है । इस प्रकार 'गौडी' रीति ही 'ओज गुण' में होता है । गौडी रीति में माधुर्य' और 'सौकुमार्य' गुणों का अभाव रहता है ।

1• द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।

एका भूय: समासा स्यादसमस्त पदापरा ।।4/149- वाग्भट

2• ओज: समासभूयस्त्व तद्‌गौड्यतिसुन्दरम् ।।

3/12- वाग्भट

आचार्य दण्डी ने "मार्ग" को गुणाश्रित स्वीकार किया है। गुण निरवकाश है अर्थात् बिना गुण के "मार्ग" की परिकल्पना नहीं की जा सकती है।[1] आचार्य दण्डीने "मार्ग" को निश्चित "काव्यपद्धति" के रूप में ग्रहण किया हैं, यद्यपि प्रादेशिकता का हल्का सा आभास उनके विवेचन में निहित है, किन्तु इनके "मार्ग" सिद्धान्त का मूल तत्व गुण है। ये गुण मार्ग में "प्राणवत्" (चैतन्यआत्मा) स्थित हैं, और इनके अभाव में मार्ग की परिकल्पना असम्भव है।

आचार्य वामन ने "मार्ग" को "रीति" के नाम से अभिहित किया तथा है इसकी व्युत्पत्ति मूलक व्याख्या भी किया है, "रीणन्ति गच्छन्ति अस्या गुणा" इति अर्थात् जिसमें गुण प्रवेश करते हैं, वह रीति है। वामन रीति को विशिष्ट पद रचना मानते हैं[2] तथा विशिष्ट का अर्थ गुणयुक्त होता है अर्थात् गुण वैशिष्ट्य से युक्त पदरचना का नाम रीति है। दण्डी गुण को रीति का प्राण मानते हैं, तो वामन उनकी मान्यता को और अधिक विकसित करते हुए यह स्वीकार करते हैं, कि गुण के अभाव में रीति की "परिकल्पना" सम्भव नहीं है। 'गुण' तथा 'रीति' में वाच्य एव व्यंग्य की भाँति धर्म- धर्मिन सम्बन्ध है। रीति प्रकारान्तर से गुणाभिव्यक्ति है,

---

1. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाःस्मृता.।
   एषां विपर्यय. प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।। 1/42
   दण्डी- काव्यादर्श

2. "विशिष्टा पदरचना रीतिः" 1,2,7 वामन
   विशेषो गुणात्मा ।। 1,2,8 -काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति

गुणाभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य से युक्त रीति ही काव्य की आत्मा है । आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौडी, और पांचाली रीतियों को स्वीकार किया है । वैदर्भी रीति को समस्त गुणों से युक्त स्वीकार किया है।[1] गौडी को ओज और कान्ति गुण प्रधान माना है, उसमें माधुर्य और सौकुमार्य राहित्य होता है । पांचाली रीति में माधुर्य एव सौकुमार्य गुणों की प्रधानता होती है ।

वाग्भट, दण्डी और वामन के मत में वैदर्भी आदि काव्य तत्व साध्य हैं और गुण उनके साधन, लेकिन आनन्दवर्धन और उनके मतानुयायियों मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के समय तक वस्तुस्थिति परिवर्तित हो गयी "वैदर्भी" आदि रसाभिव्यक्ति के साधन अथवा रस के उपकारक बन गये ।

रीति और रस का सम्बंध

वाग्भट, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के अनुसार रीति गुणों पर आश्रित है- तथा रीति के साथ गुण का अटूट संबंध है, किन्तु मम्मट, आनन्दवर्धन, रूद्रट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रीति का सम्बन्ध रस के साथ स्वीकार किया है । आचार्य

---

1. गाहन्तां महिषा निपानसलिलं श्रृंगैर्मुहुस्ताडितं
   छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।।
   विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
   विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।।

   वामन-काव्यालङ्कारसूत्राणि 1·2·11

   {अभिज्ञान0 2·6}

आनन्दवर्धन ने रीति को 'सघटना' नाम से अभिहित किया है । इसे समास से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किए हैं । असमासा, अल्पसमासा और दीर्घसमासा आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार सघटना गुणों के आश्रित रह कर रस को व्यक्त करती है ।[1] आचार्यने मम्मट "नियत वर्णों के रस विषयक व्यापार को वृत्ति (रीति) के रूप में स्वीकार किया है ।[2] आचार्य रूद्रटने रीति को समासयुक्त तथा रसाश्रित मानते हैं । विश्वनाथ ने पदों की सघटना को रीति माना है । यह अग सस्था के समान है अर्थात् काव्य पुरूष रूप में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है और इसी रूप में रहकर वह रस का उपकार करती है ।[3] अर्थात आनन्दवर्धन की भाँति आचार्य विश्वनाथ ने भी रीति को "रसोपकर्त्री" स्वीकार किया है । "उपकर्त्री रसादीनाम्"[3] इन आचार्यों ने (मम्मटादि) तीन रीतियों को स्वीकार कर वैदर्भी, गौडी और पाचाली को क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद के रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध किया है । इनके अनुसार रीतियों का स्वरूप इस प्रकार है --

(1) पदों की सघटना का नाम रीति है ।

---

1. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा
   रसान् - - - - - - - - - - - - 3.5-ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन

2. वृत्ति: नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार.

   काव्यप्रकाश-मम्मट

3. पदसघटना रीति. अंगसस्थाविशेषवत ।
   रसादीनामुपकर्त्री- - - - - - - विश्वनाथ-साहित्यदर्पण 9/1

§2§ ये तीन हैं, जो कि क्रमश. माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यजक नियत वर्णों से रचित होती है । क्रमश. समास की रहितता, अधिकता और न्यूनता इनका बाह्य रूप है ।

§3§ गुण पर आश्रित रहकर ये रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं । इन तीनों रीतियों का लक्षण इस प्रकार है--

'वैदर्भी' रीति 'माधुर्य गुण' के व्यजक वर्णों से युक्त होती है तथा श्रृंगार करूण आदि कोमल रसों का उपकार करती है; इसे मम्मट ने "उपनागरिका वृत्ति" स्वीकार किया है । 'गौडी' रीति 'ओज गुण' के व्यजक वर्णों से युक्त होती है तथा रौद्र, वीर आदि कठोर रसों का उपकार करती है । मम्मटनेइसे -"परूषा वृत्ति" के रूप में स्वीकारकिया हैं ।

पाँचाली रीति माधुर्य और ओजगुण के व्यजक वर्णों से युक्त ~~तथा रचना~~ होता है । इसे कोमला वृत्ति के रूप में मम्मट ने स्वीकार किया है ।

रीति वृत्ति और प्रवृत्तियाँ

काव्य शास्त्र में वृत्ति (वृत् + क्तिन्) का प्रयोग मुख्यत: दो अर्थों में हुआ है। प्रथम अर्थ है "नाट्य वृत्ति" द्वितीय अर्थ है "काव्य वृत्ति" आचार्य भरत के समय से ही चार नाट्य वृत्तियों का प्रचलन रहा है। ये चार नाट्य वृत्तियाँ हैं भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। वाणी के अभिनय से भारती का मनश्चेष्टा या सात्त्विक अभिनय से सात्वती का और कायचेष्टा या कायिक अभिनय के उग्र तथा सौम्य रूप से क्रमश: आरभटी और कैशिकी वृत्तियों का सम्बन्ध स्वीकार किया है। भारती वृत्ति "शब्द प्रधान" और शेष वृत्तियाँ "अर्थ प्रधान" होती हैं। ऋग्वेद से भारती का, यजुर्वेद से सात्वती का, सामवेद से कैशिकी, अथर्वेद से आरभटी का उदय माना गया है।[1] इन वृत्तियों को आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने अर्थवृत्तियाँ स्वीकार किया है। काव्यवृत्तियाँ तीन है-- उपनागरिका, परुषा और कोमला। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने इसे शब्द वृत्ति माना है। आनन्द वर्धन के अनुसार व्यवहार ही वृत्ति है।[2] इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त के अनुसार धर्म, अर्थ, काम

---

1. ऋग्वेदाद्भारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती।
   कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ।। 20/25

   नाट्यशास्त्र -भरत

2. व्यवहारो हि वृत्ति रित्युच्यते ।। 3/415

   ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन

और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय के साधक व्यापार का नाम ही वृत्ति है।[1] दूसरे शब्दों में पात्रों की कायिक वाचिक और मानसिक विचित्रता से युक्त चेष्टा ही "वृत्ति" है। इस व्यापार या चेष्टा का वर्णन काव्य में सर्वत्र होने के कारण ही "वृत्ति" को भरत ने काव्य की "माता" स्वीकार किया है।[2] "नाट्यदर्पण" के लेखक रामचन्द्र ने भी अभिनवगुप्त के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए वृत्तियों के महत्व को काव्यव्यापी स्वीकृति दी है, तथा वे यह स्वीकार करते हैं, कि वर्णनीय भाव से हृदयस्थ वृत्तियाँ ही काव्य को उत्पन्न करती हैं यही उनके काव्य जननी होने की संगति है।[3]

आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम समास और असमासा के रूप में वृत्ति का प्रयोग किया है। यद्यपि भामह ने ओज गुण के प्रसङ्ग में समास युक्त पदों का विधान सर्व प्रथम किया है तथा गौडी रीति के प्रसङ्ग में वामन ने उत्कट समास युक्त पदों का विधान किया है, किन्तु इनमें से किसी ने भी "वृत्ति" शब्द का अभिधान इस रूप में नहीं किया है। आचार्य रुद्रट ने ही समास और असमास भेद से वृत्ति के दो रूप स्वीकार किये हैं[4] तथा समासवती वृत्ति के तीन भेद माने हैं – पाचाली, लाटीया

---

1. तस्माद् व्यापारः पुमर्थ साधको वृत्तिः।

अभिनवगुप्त-अभिनवभारती

2. सर्वेषामेव काव्याना वृत्तयो मातृका' स्मृता.।।

नाट्यशास्त्र- 20,4

3. आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कवि हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते ।।274 पृ0

नाट्यदर्पण

4. नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यु रीतयस्तिस्त्र.।। द्वितीय अध्याय (3)

रुद्रट-काव्यालङ्कार

और गौडीया एवं वैदर्भी रीति को समासहीन वृत्ति का भेद माना है । अत. यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समास रूपा और असमास रूपा वृत्ति को रीति के साथ सकुलित करने का श्रेय भी रूद्रट को ही है । यहीं से रीति के वैदर्भी, पाचाली, लाटी और गौडी इन चार भेदों के विभिन्न लक्षणों में समास वृत्ति के मात्रा-गत सन्निवेश व्यवच्छेदक तत्व के रूप में प्रारम्भ हुये और अत तक रहे ।

इस प्रकार वृत्ति का स्वरूप "शब्दगत" तथा अर्थगत" दोनों ही है । कालान्तर में वृत्ति के ही दोनों रूप पृथक हो गये जिसके परिणामस्वरूप अर्थवृत्तियाँ {भारती, सात्वती} और वर्णवृत्तियाँ {उपनागरिका} आदि का क्षेत्र पृथक्- पृथक् हो गया । इनमें से प्रथम अर्थवृत्तियों का रीति से निकट सम्बन्ध नहीं है । उनका सम्बन्ध नाटक से ही अधिक है । दूसरे प्रकार की वृत्तियाँ उपनागरिका, परूषा और कोमला आदि का रीति से घनिष्ट सम्बन्ध है । मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने रीति और वृत्ति को अभिन्न स्वीकार किया है ।

"वैदर्भी" रीति को "उपनागरिका" वृत्ति मम्मट ने स्वीकार किया है । यह "माधुर्य गुण" के व्यंजक वर्णों से युक्त रचना "वैदर्भी" रीति है । यह श्रृंगार करुण आदि कोमल रसों का उपकार करती है । गौडी रीति को "परूषा-वृत्ति" के रूप में स्वीकार किया है । यह ओज गुण के व्यजक वर्णों से युक्त तथा रौद्र, वीर आदि कठोर रसों का उपकार करती है ।

पाचाली रीति को कोमला वृत्ति के रूप मम्मट ने स्वीकार किया है । तथा माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त रचना पाचाली रीति है यह कोमला वृत्ति प्रसाद गुण में होता है ।

अत. मम्मट ने अनुप्रास अलङ्कार के प्रकरण में इन तीन वर्ण वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) को स्वीकार किया जो क्रमश. वामन की पांचाली वैदर्भी और गौडी रीतियों की स्थानापन्न है । मम्मट ने ही सर्व प्रथम इस "वर्ण वृत्ति" की व्याख्या नियत वर्णगत रस विषयक व्यापार के रूप में स्पष्ट किया है ।[1] रूद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा इन पांच वर्ण वृत्तियों को ही स्वीकार किया है ।[2] वास्तव में वर्ण वृत्तियों का प्रमाणिक विवेचन मम्मट तक ही पूरा हो जाता है, और उनके बाद रीति और वर्ण वृत्ति का कोई भेद नहीं रहता । आचार्य जगन्नाथ ने भी वैदर्भी रीति को "वृत्ति" ही स्वीकार किया है ।[3] भरत की कैशिकी आदि नाट्य वृत्तियों के साथ तो रीति के अधिकार क्षेत्र का कोई विवाद ही नहीं है, समासवृत्ति और वर्णवृत्ति के इतिहास का विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि वृत्ति और रीति में कोई अंतर नहीं है । "समास-वृत्ति" को सर्व प्रथम रूद्रट ने 'गौडी रीति' के साथ एकाकार किया है तथा वामन दीर्घ समास युक्त पद को गौडी रीति मानते है । रूद्रट के बाद तो रीति-भेद के लक्षणों का आधार ही समास वृत्ति, रीति का अवान्तर अवच्छेदक धर्म बन कर रीति में ही अभिनिविष्ट होकर रह गई ।

---

1. वृत्ति नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार: । मम्मट-काव्यप्रकाश /9

2. मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तय. पंच वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थ-नामफला: ।। 2/19 रूद्रट-काव्यालङ्कार

3. तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ।
रसगंगाधर-73

वर्ण-वृत्ति का प्रस्थापन सबसे पहले उद्भट ने वृत्यानुप्रास के प्रसंग में उपनागरिका, ग्राम्या और परूषा के प्रकार-भेदों के साथ किया है, जो क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक रीतियों में अभेद भाव से व्यवहृत हुआ। आचार्य मम्मट ने वृत्यानुप्रास के विवेचन में उद्भट की उपर्युक्त त्रिधा वर्ण वृत्तियों को तीन रीतियों के साथ एकाकार करके सर्वदा के लिए इनका भेद भाव समाप्त कर दिया अर्थात् मम्मट ने उपनागरिका, परूषा और कोमला इन तीन वृत्तियों को वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियों के अन्तर्गत स्वीकार किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने सङ्घटना के भीतर "समास वृत्ति" और "वर्ण-वृत्ति" दोनों को ही ग्रहण किया है।

यद्यपि आचार्य वाग्भट ने 'रीति' के अतिरिक्त वृत्ति, प्रवृत्ति का विवेचन नहीं किया है। किन्तु वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति सम्बन्धी मान्यताएँ एक दूसरे के निकट है, इसमें एक के भीतर दूसरे का अन्तर्भाव है।

आचार्य भोज ने प्रवृत्तियों के विषय में दो बार विचार किया है, प्रथम नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी विषयों के अन्तर्गत "बारहवें प्रकाश" में और द्वितीय अनुभावों के अन्तर्गत "सत्रहवें प्रकाश" में अनुभावों के प्रसङ्ग में भोज ने केवल चार प्रवृत्तियों का जिक्र किया है, क्योंकि वे उसकी संख्या का क्रम चार वृत्तियों और चार रीतियों के अन्तर्गत स्वीकार करते है। भोज ने इनमें से तीनों को एक साथ संयोजित कर उन्हें बुद्धयारम्भ अनुभाव कहा है। लक्षण और उदाहरण देते समय भोज ने केवल प्राचीन चार प्रवृत्तियों का ही उल्लेख किया है--

आचार्य भरत ने वृत्ति तथा प्रवृत्ति में भेद नहीं माना है-- "अत्राह, प्रवृत्तिरिति कस्मादिति ? उच्यते, पृथिव्या नानादेशवेषभाषाचारा. वार्ता ख्यापयतीति प्रवृत्तिः । नाट्यशास्त्र - पृ0 165 । आचार्य भरत ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है । 1. दाक्षिणात्या, 2. आवन्तिका, 3. औड्रमागधी, 4. पंचाल मध्यमा ।

दाक्षिणात्या के अन्तर्गत सामान्यतया सारे दक्षिणी प्रदेश आते है । दक्षिणात्या प्रवृत्ति की विशेषताएँ नाट्य शास्त्र के अनुसार--"तत्र दाक्षिणात्यास्तावद् बहुवृत्तगीतवाद्या कौशिकी प्रायाः चतुर मधुरललिता ।" कालिदास "मालविकाग्निमित्र" तथा अन्य नाटकों में इस दाक्षिणात्य को "विदर्भ" के नाम से पुकारते है ।

आवन्तिका के अन्तर्गत अवन्ती, विदिशा, मालव, सिन्धु, सौराष्ट्र आदि प्रदेश की भाषाएँ एवं प्रचलन मुख्य रूप से स्वीकार किये हैं । भोज ने बाद में इसी के लिए "अवन्तिका रीति" का प्रयोग किया है ।

औड्र-मागधी के अन्तर्गत बंग, कलिंग, उड़ीसा, मगध मिथिला आदि प्रदेशों की भाषा एवं प्रचलन का सम्बन्ध इससे है । परवर्ती काल में इसका सम्बन्ध "गौडीय रीति" से जोड़ा गया है ।

पांचालमध्यमा पांचाल, शूरसेन, काश्मीर भद्र आदि प्रदेश की भाषा एव प्रचलन का सम्बन्ध इससे माना जाता है।पांचाली रीति का सम्बन्ध इससे जोड़ा गया

आचार्य भरत का यह "प्रदेशाभिधान्यवाद" एक ओर प्रादेशिक भाषाओं,रीति रिवाजों, प्रचलनों से सम्बन्धित रहा है, तो दूसरी ओर इसका सम्बन्ध रस तथा नाट्य शास्त्र की अन्य सैद्धान्तिक मान्यताओं से जुड़ा हुआ है ।

रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति को राजशेखर ने काव्यमीमांसा के तृतीय अध्याय में अलग ढंग से परिभाषित किया है । राजशेखर के अनुसार "देशों के वेष-विन्यास-क्रम का नाम प्रवृत्ति, नाचगाना आदि विलास-विन्यास का नाम वृत्ति और वचन-विन्यास का नाम रीति है ।[1] राजशेखर ने चार प्रकार की प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है-- औड्रमागधी, पाञ्चाली मध्यमा, आवन्ती, दक्षिणात्या प्रवृत्ति ।

<u>औड्र मागधी</u> पूर्वदेश के अंग, वंग, सुह्म, ब्रह्म के निवासियों ने काव्य रचना में औड्रमागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौडीया रीति का प्रयोग किया है ।

<u>पाचाल मध्यमा</u> पाचाल देश, शूरसेन, हस्तिनापुर, काश्मीर, वाहीक आदि प्रसिद्ध जनपद है । यहाँ के निवासियों ने साहित्य वधू का अनुसरण किया । स्नातक मुनियों ने इस वेश की प्रशंसा इस प्रकार से की है--

"ताडङ्क·वल्गनतरङ्गि·तगण्डलेख मानाभिलम्बिदर दोलिततारहारम् ।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितान्तरीयं वेष नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम् ।।"
राजशेखर-काव्यमीमांसा=पृ0 20 तृतीय अध्याय

अत: पांचाल देश में पांचाली मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी वृत्ति तथा पांचाली रीति से काव्य रचना को माना है ।

1· तत्र वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति., विलासविन्यासक्रमो वृत्ति., वचनविन्यासक्रमो रीति: ।।पृ॰ २२ तृतीय अध्याय राजशेखर-काव्यमीमांसा

आवन्ति अवन्ति देश में "आवन्ति प्रवृत्ति" पाचाल और दक्षिण के {प्रवृत्तियों के} मध्य की प्रवृत्ति है। अवन्ति देश की दो वृत्तियाँ है- सात्वती और कैशिकी। इस वृत्ति की मुनियों ने इस प्रकार से प्रशंसा की है--

"पाचाल ने पथ्यविधिर्नराणों स्त्रीणा पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्य: ।
यज्जल्पतं यच्चरितादिकं तदन्योन्यसम्मिन्नमवन्तिदेशे ।।"

3/21 राजशेखर-काव्यमीनासा

दाक्षिणात्या दक्षिण देश में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कैशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति के अनुसार रचना होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि रीति, वृत्ति और प्रवृत्तियों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रस सिद्धान्त

काव्य शास्त्र में सम्पूर्ण विवेचन आध्यात्मविचार चर्चा को लेकर हुआ है। काव्यशास्त्र में रस विवेचन का उद्गम कहाँ से और कब से हुआ है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। काव्यशास्त्र का आदि उत्स वैदिक साहित्य है। वेदों में यत्र तत्र रसों एवं अलङ्कारों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है। आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व जब महर्षि विश्वामित्र अपने अनुयायियों सहित शतुद्रु और विपासा के साम पर पहुँचे उस समय कलकल निनाद करती हुई नदियों के जल को देखकर उनके मन में स्वतः काव्यधारा प्रस्फुटित हो उठी थी। उन्होंने पर्वतों के गोद से निकली हुई, समुद्र के प्रति गमन की इच्छा वाली खुली हुई, दो घोड़ियों के समान, मन्दहास्य में खिलखिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हुई ये विपाशा और शतुद्रु नदियाँ अपनी जलधारा से वेग के साथ जा रही हैं, ऐसी कल्पना की थी ---

"प्रपर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाशा शतुद्री पयसा जवेते।।[1]"

प्रस्तुत ऋचा में श्रृंगार रस की प्रतीत हो रही है।

डा० जयमन्त मिश्र ने रसों का मूलस्रोत वेदों में खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने यह कहा है कि "यह कहना असंगत न होगा कि वेदाचल से रस सामान्य का स्रोत निकला, वैसे ही रस विशेषों की भी धारा वहीं से निकलकर प्रवाहित होती जा रही है।[2] वेदों में आदि मनीषियों की वाणी से जो काव्य प्रस्फुटित

1• ऋग्वेद, 3/33/1

2• डा० जयमन्त मिश्र काव्यात्म मीमांसा, पृ० 11

हुआ है । उसमे रस स्वत. ही उद्वेलित हो उठा है ।

रामायण के प्रणेता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने जब विहार करते हुए कौंच युगल में एक का वध किया जाता हुआ देखा तो उनके मुख से स्वत. हो करूण रस का निष्पन्द फूट पडा था --

"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगाम. शाश्वती. समा: ।
यत्कौंच मिथुनादेकमवधी: काम मोहितम् ।।"

रामायण और महाभारत में सभी रसों की निर्झरिणियाँ प्रवह्यमान है । महाभारत के विषय में कहा गया है-- "यदि हास्ति न तदन्यत् यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् । इस प्रकार रामायण एवं महाभारत में विभिन्न रसो एव भावों का चित्रण हुआ है । वैदिक संहिता एव ब्राह्मण ग्रथों में भी सयोग, वियोग, अद्भुत एवं वीभत्स तथा भयानक आदि रसों के प्रकीर्ण उदाहरण मिलते है ।

भारतीय साहित्य चिन्तन में रस सिद्धान्त का विवेचन प्राचीन है । यद्यपि इसका प्रथम उल्लेख भरत के नाट्य शास्त्र में मिलता है, लेकिन निश्चित रूप से भरत के नाट्य शास्त्र को रचना के पूर्व अपने अस्तित्व में विद्यमान रहा । भरत के नाट्य शास्त्र को रचना पहली शती ई0 के आस पास स्वीकार की जाती है, तो रस सिद्धान्त को स्थापना का काल उससे भी पांच सौ वर्ष पूर्व स्वोकार किया जाना चाहिए । रस का स्वाभाविक और सहज पर्याय हैं, आनन्द जहाँ यह स्वीकार किया जाता है--"रसो वै स." । किन्तु नाट्य अभिनय या नाट्य रचना में यह आनन्द मन का वासना जन्य आनन्द होता है । परमात्मा के साक्षात्कार या समाधि मे उनकी अनुभूति का जो आनन्द है, वह आत्मा के स्वप्रकाश से उद्भूत वासनाओं से सर्वथा उन्मुक्त या स्वतत्र होने का आनन्द है इसलिए टोंमे

आनन्दों की कोई तुलना नहीं की जा सकती है। दोनो एक दूसरे के विपरीत हैं। शैव दर्शन का चिन्तन करने वाले 9वीं से 11वीं (ग्यारहवीं) शती के बीच काश्मीरक आचार्यों ने जिनमे महामहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद मुख्य है इस रस दर्शन को शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समक्ष कसौटी पर रखा और इसे लोकोत्तर आनन्द की संज्ञा से अभिहित किया। रस सिद्धान्त की यह सर्वोच्च महिमा साहित्य जात में प्रतिष्ठापित हुई।

रसो की संख्या

सामान्य रूप से स्वीकृत धारणा यह है कि रस नौ होते है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के जैन आचार्य वाग्भट ने रसों को संख्या नौ निर्धारित करते हुए इस प्रकार से रस का क्रम स्वीकार किया है— श्रृंगार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, बीभत्स और शान्त।[1] वाग्भट ने इनके स्थायी भावो का भी उल्लेख किया है -- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम।[2] काव्य शास्त्र के मूर्धन्य आचार्य मम्मट ने अपनी विश्रुत कृति "काव्यप्रकाश" की प्रथम कारिका में ही कवि की निर्मित कविता के लिए "नव रसरुचिराम्" विशेषण का प्रयोग किया है। जिसकी व्याख्या प्रसिद्ध टीकाकार झलकीकर वामन ने दो प्रकार से किया है— "नवसंख्याकाः रसाः श्रृंगारादयो यस्यां सा नवरसा,

---

1. श्रृंगारवीर करुण हास्याद्भुतभयानकाः।
   रौद्र बीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः॥ 5/3 वाग्भट
2. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहभयं तथा।
   जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ 5/4 वाग्भट

सा वासौ अत एव रुचिरा मनोहरा च ताम् ।" मम्मट का यह कथन संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में रसों की कुल संख्या नौ होने की सार्वभौम मान्यता का परिचायक है । "यशस्तिलक चम्पू" नामक प्रसिद्ध साहित्यिक कृति में भी यही मान्यता स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है ।

संस्कृत के प्राचीन कवियों एवं काव्यशास्त्रियों की कृतियों में रसों की कुल संख्या नौ के स्थान पर आठ का ही उल्लेख किया है । कवि कुल गुरु "कालिदास" ने नाट्य को "अष्टरसाश्रय" कहा है--

मुनिना भरतेन य. प्रयोगो,
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त: ।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता,
मरुतां द्रष्टुमना: सलोकपाल. ।। 2/18 विक्रमोर्वशीयम्

आचार्य दण्डी ने कवि की वाणी को "अष्टरसायत्ता" का विशेषण स्वीकार किया है ।[1] रस का सैद्धान्तिक विवेचन करने वाला आद्य-ग्रन्थ आचार्य भरत का "नाट्यशास्त्र" है । इसके षष्ठ एवं सप्तम अध्याय में विशेष रूप से रस एवं भाव की सैद्धान्तिक विवेचना की गई है । अध्याय के आरम्भ में ही रसों के नाम एव उनकी संख्या का परिगणन करते हुए कहा है--

शृंगार हास्य करुणारौद्र वीरभयानका. ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा. स्मृता: ।।
एते ह्यष्टौ रसा: प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।।

नाट्यशास्त्र 6/15-16

यहाँ यह स्वीकार किया है, कि द्रुहिण अर्थात् ब्रह्मा ने जिस नाट्य वेद की रचना

---

1. वाक्यस्याग्राम्यातायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रस. ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।। 2/292 काव्यादर्श

किया और भरत को जिसका उपदेश दिया उसमें श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत नामक आठ रसों का ही विधान है । अध्याय के अन्त में भी रस विषयक विवेचना को समाप्त करते हुए, रसों को आठ संख्या का पुनरुल्लेख इस तथ्य को प्रमाणित करता है, कि "नाट्यशास्त्र" में रसों की कुल संख्या आठ ही है । जिनका लक्षणोदाहरण निरूपण नाट्यशास्त्र में हुआ है--

"एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिता. ।"

नाट्यशास्त्र 6/83

नाट्यशास्त्र के सप्तम भावाध्याय में निरूपित स्थायी भावों से रसों को आठ संख्या की पुष्टि होती है । आचार्य रुद्रट ने अपनी कृति "काव्यालङ्कार" में भरतप्रोक्त उक्त आठ रसों के अतिरिक्त शान्त एवं प्रेयान् नामक दो और रसों के होने का विधान किया है--

श्रृंगार वीर करुणा बीभत्स भयानकाद्भुता हास्य: ।

रौद्र. शान्त. प्रेयानिति मन्तव्या रसा. सर्वे ।। 12/3 काव्यालङ्कार

इस प्रकार रसों की संख्या दस स्वीकार की है । आचार्य रुद्रट का तर्क यह है, कि आचार्यों ने श्रृंगार आदि को रस इस लिए कहा है, कि उनमें रसनीयता अर्थात् अनुभव में आने की योग्यता है । चूँकि यह योग्यता "निर्वेद" और "स्नेह" आदि भावों में पायी जाती है, अत. शान्त एवं प्रेयान् के भी रस होने मे कोई विप्रतिपत्ति नहीं है--

रसनाद्रसत्वमेषा मधुरादीनामिवोक्त आचार्यै. ।

निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसा: ।।

काव्यालङ्कार- 12/4

रूद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने यह स्वीकार किया है, कि चित्त की कोई भी वृत्ति ऐसी नहीं है, जो परिपोष प्राप्त कर रस के रूप में परिणत न हो जाए। इनका विचार है कि भरत ने रसों की जो आठ संख्या मानी है, उसका भी आधार सहृदयों के, हृदय के आवर्जन में प्रचुरता का होना ही है। रूद्रट के पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट ने भी शान्त सहित नौ रसों के होने का विधान किया है—

शृङ्गार हास्य करूण रौद्रवीरभयानका.।

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता.।। 4/45

काव्यालङ्कारसारसंग्रह

यहाँ शान्त को रस में परिगणित कर इदमित्थ रूप से उनकी नौ संख्या का उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है, कि शान्त को रस स्वीकार करने की परम्परा अभिनवगुप्त से पूर्व थी। नाट्यशास्त्र में शान्त रस के प्रक्षेप का काल भट्टोद्भट के बाद का ही है, जिसका संकेत रूद्रट कृत "काव्यालङ्कार" की टीका में नमिसाधु ने "भरतेन· ··· अष्टौ वा नव वा रसा उक्ता." इस प्रकार उक्ति से किया है। रसो की संख्या के पश्चात् आचार्यों ने रसो का परिभाषा को भिन्न भिन्न ढंग से स्वीकार किया है----

आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार से रस की परिभाषा को स्वीकार किया है, "विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और सात्विक भावों से परिपोष को प्राप्त किये गये स्थायी भावों को रस की संज्ञा प्रदान करते हैं।"[1] आचार्य भरत के अनुसार विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।"[2]

1· विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि.।
आरोप्यमाण उत्कर्ष स्थायी भावो रस: स्मृत:।। 2/5 वाग्भटालङ्कार

2· "तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति:।" पृ० 620 षष्ठोऽध्याय
भरत-नाट्यशास्त्र

आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने नाट्य दर्पण मे रसों की परिभाषा को इस प्रकार से स्वीकृत किया है--"विभाव तथा व्यभिचारी भाव आदि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होने वाला स्पष्ट अनुभावों के द्वारा प्रतीत होने वाला स्थायी भाव ‖रूप ही‖ सुख-दु.खात्मक न होकर‖अर्थात् केवल सुखात्मक अथवा केवल दु.खात्मक न होकर उभयात्मक‖ रस होता है" ।[1]

दशरूपक मे धनंजय और धनिक के अनुसार रस की परिभाषा इस प्रकार से है--"विभावों अनुभावों व्यभिचारियों तथा सात्त्विक भावों के द्वारा आस्वादन की योग्यता को प्राप्त कराया गया अर्थात् आस्वादन के योग्य बनाया गया स्थायी भाव ही कहा रस कहा गया है ।"[2]

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में रसों की परिभाषा के संदर्भ में यह स्वीकार किया है, "विभाव,अनुभाव व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति स्थायी भाव ही रस है ।"[3] विभाव,अनुभाव,व्यभिचारी भाव एवं स्थायी तथा सात्त्विक भावों की व्याख्या आचार्यों ने अलग अलग ढग से स्वीकार किया है--

विभाव-- भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार कला एव साहित्य मे रस निष्पत्ति के लिए अपेक्षित तत्वों में विभाव का महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि विभाव

1· स्थायी भाव: श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभि. ।
स्पष्टानुभावनिश्चेय. सुख दु:खात्मको रस: ।। सूत्र 163 ‖6‖ 109
रामचन्द्र गुणचन्द्र ‖नाट्यदर्पण‖

2· विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि. ।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस. स्मृत. ।। ‖1‖ दशरूपक चतुर्थ प्रकाश

3· विभावनुभाव्यभिचारिभिरभिव्यक्त: स्थायी भावो रस. ।। काव्यानुशासन-
हेमचन्द्र, 2 अध्याय पृ० 56

स्वयं कोई भाव विशेष न होकर भावोद्दीपन का कारण मात्र है, किन्तु इसके अभाव मे किसी भी भाव की उद्दीप्ति कठिन है। अत. इस दृष्टि से ये रस के अनिवार्य उपकरणों या साधनों में से एक है।

रस सिद्धान्त के विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने दृष्टिकोण से विभाव का विवेचन करते हुए उसका स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है, आचार्य भरत के अनुसार विभाव का अर्थ है "विज्ञान" विभाव कारण निमित्त एवं हेतु के पर्याय वाचक शब्द है। वाचिक, आंगिक एवं सात्त्विक अभिनय इससे जाने जाते हैं अत: इसका नाम विभाव है अर्थात् इन उक्त अभिनयों का बोधक विभाव है।अत.'विभावित' एव'विज्ञात' दोनों मे अर्थ का भेद नहीं है। दोनों का एक ही अर्थ है,अत. इस विषय में यह स्वीकार किया गया है -- "वाचिकादि अभिनयों के आश्रय करने वाले बहुत से अर्थ इससे जाने जाते हैं अर्थात् बहुत अर्थों का ज्ञान इससे हो जाता है, इसलिए इसको विभाव यह संज्ञा है।[1] धनंजय ने "दशरूपक" में विभाव शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है कि "विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ होकर "स्थायी" भाव को पुष्ट करता है। वह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है"[2]। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ के अनुसार "रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा: काव्य नाट्ययो. अर्थात् लोक में जो रति आदि के उद्बोधक हैं,

---

1• विभावो विज्ञनार्थ: । विभाव. कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्याया: ।
विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्वाभिनया इत्यतो विभाव. । यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।।

सप्तमोऽध्याय 792 पृ०
भरत-नाट्यशास्त्र

2• ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ।। 2 चतुर्थ प्रकाश दशरूपक
धनंजय

वे ही काव्य नाटकादि मे विभाव कहलाते हैं ।[1] पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार भी "स्थायी भावों के लोक प्रचलित कारणों को विभाव कहते हैं[2]।" अभिनवगुप्त के अनुसार "चित्तवृत्त्युद्भवहेतुर्विभवो विभाव शब्दस्यार्थ. । वागादयोऽभिनया येषां स्थायि-व्यभिचारिणा ते स्थायि ज्ञायन्ते यै: ते विभावा. ।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भरत, धनजय, विश्वनाथ जगन्नाथ इन सभी आचार्यों ने विभाव को भाव के हेतु या कारण के रूप में ही स्वीकार किया है । आचार्य भरत ने सामाजिक या पाठक की दृष्टि से विभाव का लक्षण निरूपित किया है । जब कि अन्य आचार्यों ने लौकिक दृष्टि से विवेचन किया है ।

अनुभाव-----

अनुभाव का लक्षण आचार्य भरत के अनुसार - "वाणी अंग एवं सत्व से किये गये अभिनयों का अनुभव करते हैं, अत. इसका अनुभव यह नाम है, यहाँ नाट्य में जिससे वाचिकादि अभिनयों के द्वारा नाना प्रकार के अंग एवं उपाङ्गों से सम्बद्ध

---

1. रत्याद्युद्बोधको लोके विभाव. काव्यनाट्ययो. ।
   आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।।
   आलम्बन नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् । - 6.29
   उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।।
   आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ||-6 132 विश्वनाथ साहित्य दर्पण

2. एवमेषां स्थायिभावाना लोके तत्तन्नायकागतानां यान्यालम्बनतयो - द्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येव काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते विभावयन्तीति व्युत्पत्ते. ।

   पण्डित राजजगन्नाथ
   रसगंगाधर, प्रथम आनन पृ0 134

अर्थ का सामाजिक लोक अनुभव करते हैं । अतः वह अनुभाव कहा गया है ।"

" विद्वान लोग लोक स्वभाव के अनुसार सिद्ध और लोक यात्रा का अनुगमन करने वाले कारणों और कार्यों को अभिनय के सदर्भ में विभाव एव अनुभाव समझे[2] ।"

नाटक के संदर्भ में वाणी ‡ध्वनि, भाषा आदि‡ शारीरिक चेष्टाओं एव सत्वोद्रेक पात्रों के गूढ़ अर्थो या मनोभावों का अनुभव प्रेक्षक को प्रदान करते है, वे "अनुभाव" कहलाते हैं । अनुभव प्रदान करने के कारण ही इन्हें "अनुभाव" कहा गया है । किन्तु "अनुभाव" शब्द की व्युत्पत्ति "अनुभव" से हुई है।इसे स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है, क्योंकि उनके विचारानुसार "अनुभव" शब्द "अनु" और भाव के योग से बना है, तथा "अनु" का अर्थ "पश्चात्" ‡पीछे‡ है[3] । अत व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह स्वीकार किया जाता है, कि जो भाव के पीछे उत्पन्न होता या जो भाव का अनुवर्ती होता है, वह "अनुभाव" है ।

उपर्युक्त दृष्टि से अनुभाव दो प्रकार के अर्थो का सूचक ~~कहा जा सकता~~ है । प्रथम"अनुभव" कराने वाला तथा द्वितीय'भाव'का अनुवर्ती । वस्तुत. अनुभाव पर दोनों ही विचारधाराएँ सत्य प्रतीत होती हैं ।

1· वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्तत. स्मृत. ।। 7/5 नाट्यशास्त्र
आचार्य भरत

2· लोकस्वभावससिद्धा लोक यात्रानुगामिन. ।
अनुभावा विभावश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधै. ।। 7/6
आचार्य भरत-नाट्यशास्त्र

3· रससिद्धान्त . स्वरूप विश्लेषण डॉ0 आनन्द
प्रकाश पृ0 स0 22

धनजय के अनुसार ---"{रति आदि} भावों को सूचित करने वाला विकार {शरीर आदि का परिवर्तन} अनुभाव है । ये रस के कार्य तथा लोक व्यवहार में इनको प्रत्यक्ष रूप मे देखा जा सकता है[1] । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार -- "उद्बुद्ध {इत्यादि} को बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में जो "कार्य" रूप है, वही काव्य और नाटक अनुभाव है ।[2] प० जगन्नाथ के अनुसार "उन {रति आदि स्थायी भावों के} जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं, वे ही अनुभाव है[3] ।

अत विभिन्न मतों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि अनुभाव के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में विशेष मत भेद नहीं है । प्राय. सभी ने भरत की मान्यता को स्वीकार करते हुए उसके स्पष्टीकरण में बताया है, कि वे भावों के सूचक होते हैं । वे आंगिक या शारीरिक विकार हैं, लोक व्यवहार में इन्ह कार्य कहते हैं, अर्थात् विभिन्न भावों के उद्वेलन या उदबोधन से हम सभी में जो विकार या परिवर्तन आते हें तथा जिनसे मनोद्वेलन की सूचना मिलती है, उन्हें अनुभाव स्वीकार किया गया है ।

1· अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक ।

3/ दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश
धनजय

2· "उद्बुद्ध कारणै: स्वै. स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
लोके य कार्यरूप: सोऽनुभाव. काव्यनाट्ययो. ।"

साहित्यदर्पण"- 3/132
विश्वनाथ -

3· अनचि कार्यतया तान्यनुभाव शब्देन ।

रसगंगाधर, प्रथम
आनन्द पृ० सं० 135

व्यभिचारी भाव

रस के सैद्धान्तिक विवेचन में संचारी भाव के लिए "व्यभिचारी भाव" का भी प्रयोग पर्याय रूप में उपलब्ध है। प्रारम्भिक आचार्यों ने तो "व्यभिचारी" शब्द का ही प्रयोग प्रमुख रूप में किया है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि "व्यभिचारी भाव' की व्याख्या में संचरण या संचार का उल्लेख होने के कारण ही आगे इनका संचारी नाम ही प्रचलित हुआ। शाब्दिक दृष्टि से भी व्यभिचारी और संचारी के अर्थ में सूक्ष्म अंतर है। शब्दकोष के अनुसार व्यभिचारी जहाँ पथभ्रष्ट, कुमार्गगामी, अनियन्त्रित असत्य अविश्वसनीय आदि का सूचक है, वहाँ 'संचारी' का अर्थ गतिशील, अस्थिर, चंचल, परिवर्तनशील आदि है। आचार्य भरत ने "व्यभिचारी" शब्द का प्रयोग करते हुए व्युत्पत्ति के आधार पर इनका स्वरूप स्पष्ट करने का यत्न किया है। भरत के अनुसार "व्यभिचारी" शब्द क्रमशः "वि" "अभि" एवं चर के योग से निर्मित है, अत. ये तीनों निम्नांकित तीन विशेषताओं के परिचायक है --

(1) "वि" विविधता का सूचक है। इससे प्रतीत होता है कि संचारी भाव एक तो विविध प्रकार के होते हैं तथा दूसरे वे विभिन्न साधनों वाणी, शारीरिक चेष्टाओं, सत्वोद्रेक आदि के रूपों में प्रस्तुत होते हैं। भरत ने इस प्रसंग में "वागंगसत्वोपेतान" का उल्लेख विशेष रूप में किया है।

(2) अभि, को "अभिमुख्य" या "अभिमुखता" का सूचक स्वीकार किया गया है। धनंजय और विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने भी अभिमुख्य पर विशेष बल दिया है। शब्द कोष के अनुसार "अभिमुख्य" के अनेक अर्थ हैं यथा सामने, सम्मुख, समीप अनुकूल मुख किए हुए आदि इस संबंध में डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित का मत भी उल्लेखनीय है,

उन्होंने प्रारभ में अभिमुख को "अनुकूल" के अर्थ में स्वीकार किया है - "रसानुकूल"सवरण करने वाले" जिससे यह प्रतीत होता है कि संवारी भावों का एक लक्षण रसों ﴾या स्थायी भाव﴿ के अनुकूल होना भी है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित प्रतीत नहीं होता।प्रेम में क्रोध,आमर्ष,विषाद आदि इसकी मूल प्रकृति के अनुकूल प्रतीत नहीं होते यह बात अन्यथा है, कि स्थायी भाव अपनी सबलता के कारण प्रतिकूल एव विरोधी भावों को भी अनुकूल बना लेता है या उनसे विच्छिन्न नहीं होता ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना कि सवारी भाव सदा रस के अनुकूल होते हैं , न्यायसगत प्रतीत नहीं होता । भरत द्वारा कथित "विधि आभि-मुख्येन चरन्तो व्याभिवारिण., पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि "व्यभिवारी संज्ञा उन भावों को दी जायेगी, जो विविध प्रकार के रसों की अनुभूति के समय प्रेक्षक के अभिमुख सम्मुख प्रस्तुत हो जाते हैं अर्थात् रसानुभूति के समय प्रेक्षक को इनका प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि ये मानसिक स्थिति मात्र है । किन्तु उसकी सूचना स्थित्यनुकूल किये गये वागगादि अभिनय के प्रदर्शन से मिलती है, अतएव इनका साक्षात्कार हुआ करता है ।

﴾3﴿ "चर" धातु का सामान्य अर्थ है चलना किन्तु भरत ने इसका अर्थ ﴾ चरन्ति नयन्तीत्यर्थः" करते हुए इसे आननयन या "ले आने" का सूचक माना है आचार्य भरत ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह स्वीकार कि'सचारी'भाव'स्थायी'भाव को ले आते है । आचार्य भरत ने "वि""अभि" एव "चर" के आधार पर व्यभिचारी या सचारी भाव के जो तीन लक्षण निर्धारित किये है, उन्हें समन्वि करते हुए यह स्वीकार किया जाता हे, कि उनके विचार से व्यभिचारी भाव वे है, जो वाणी चेष्टा सत्वोद्रेक आदि विविध प्रकार के माध्यमों से प्रेक्षक के सम्मुख स्थायी भाव को व्यक्त या प्रकाशित करता है ।

धनजय ने दशरूपक में व्यभिचारी भाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए यह स्वीकार किया है "विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण. स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधो ।" अर्थात् जो भाव विशेष रूप में अभिमुख्य से स्थायी भाव के अन्तर्गत उन्मग्न एवं निमग्न (उठते एव डूबते) रहते हैं । जैसे समुद्र में लहरे उत्पन्न और विलीन होती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भाव में निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आविर्भूत एव तिरोहित होते रहते हैं ।

सात्त्विक भाव

सत्व + ठञ् भाव वे हे जो सत्व से उत्पन्न होते हे । यह सत्व क्या हे इस पर आचार्यों के पृथक-पृथक मत हैं, आठ सात्त्विक भावों का पृथक-पृथक परिगणन किया गया हे । आचार्य भरत के ना० शा० म सात्त्विक भावों का अपना अलग महत्व है, भरत के अनुसार-"सात्त्विक भावों का अनुभाव में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता ।[1] हेमचन्द्र सूरि के अनुसार,"प्राण ही सत्तव हे, उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक स्वीकार किये जाते है ।" प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है तब स्तम्भ, जल का भाग प्रधान होने पर अश्रु, तेज का भार प्रधान होने पर वैवर्ण्य तथा आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय की स्थिति होती है।इस प्रकार अन्य सात्त्विक भावों की उत्पत्ति होती है । ना० शा० की मर्यादा यह उपयुक्त

---

1. स्तम्भ: स्वेदोऽथ रोमाच. स्वरभङ्गोऽथ वेपथु: ।
   वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका: स्मृता:
   नाट्यशास्त्र- भरत 6/22

उल्लेख किया है । अत. इससे स्पष्ट है कि नाट्य में अनुभाव और सात्त्विक भाव का अपना-2 स्थान तथा अपना महत्व अला है, और उनका एक अला ही रसार्पणसामर्थ्य है ।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने सात्त्विक भावों को अनुभाव रूप स्वीकार किया है । दशरूपककार धनञ्जय ने सात्त्विकभाव का लक्षण इस प्रकार स्वीकार किया है-"पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका

सत्त्वादेव समुत्पन्नत्वाच्च तद्भावभावनम् ।।

जिसका स्पष्टीकरण धनिक के अनुसार इसप्रकार है-

1• स्तम्भस्वेदरोमाञ्च स्वर भेद कम्प वैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ सात्त्विका. ।
सीदत्यस्मिन् इति व्युत्पत्ते. सत्वगुणोत्कर्षात् साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्व, तत्र भावा सात्त्विका भवा इति वर्तते । तेऽत्र प्राण भूमि प्रसृत रत्यादिसंवेदन वृत्तयो वाह्यजडरूप भौतिक नेत्र जलादि विलक्षणा विभावेन रत्यादिगते नैवातिचर्वणागोचरेणाहृता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति । तथा हि पृथ्वीभाग प्रधाने प्राणे सक्रान्तश्चित्त वृत्तिगण. स्तम्भो विष्टब्धचेतनत्वम् । जल भाग प्रधानेतु वाष्प. । तेजस्तु प्राणनैकट्यादुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राण-नुग्रह इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्य च । तद्धेतत्वाच्च तथा व्यवहार. । आकाशानु-ग्रहे गतचेतनत्व प्रलय । वायुस्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्योत्कृष्टावेशात् त्रैधा रोमाचवेपथुस्वर भेद भावेन स्थितिरिति भरत विद वाह्यास्तु स्तम्भादय. शरीरधर्मा अनुभावा. तेयान्तरालिकान् सात्त्विकान् भावान् गमयन्त परमार्थतो रतिनिर्वेदादिगमका इति स्थितम् । एव च नवस्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणो ऽष्टौ सात्त्विका इति पञ्चाशद्भावाः ।

काव्यानुशासन 2•53 आचार्य हेमचन्द्रसूरि

"परगत दु.ख हर्षादि भावना यामत्यन्तानुकूलान्त. करणत्व सत्तव यदाह- सत्तवं नाम मन. प्रभव तच्च समाहित मनस्त्वादुत्पद्येत, एतदेवास्य सत्व यत. खिन्नेन प्रहर्षितेन वाश्रुरोमावादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्वेन निवृता. सात्तिवका स्त एव भावास्तत उत्पाद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भाव संबुनात्मक विकार रूपत्वाचानुभावा इति द्वैयरूप्यमेषाम्॥4|-दशरूपक-वस्तुत. दशरूपक के इस सिद्धान्त का ही सूत्र पकड़कर विश्वनाथ कविराज ने सात्तिवक भावों को अनुभाव रूप मान लिया है, किन्तु, जहाँ दशरूपक में स्तम्भादि को सात्तिवक भाव और अनु भाव दोनों रूपों में देखा गया है वहाँ साहित्य दर्पण में दोनों की एकरूपता निर्धारित की गई है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार"रजोगुण और तमोगुण से रहित सत्वगुण से युक्त स्तम्भ और स्वेदादि विकार को सात्तिवक भाव स्वीकार करते है।[1]

स्थायी भाव का विवेचन-- आचार्य भरत ने रस सम्बन्धि भावों को मुख्यत. 3वर्गों में विभक्त किया है। (1) स्थायी भाव (2) संचारी भाव (3) सात्तिवक भाव इनमें से अंतिम वर्ग (सात्तिवक भाव) को तो परवर्ती आचार्यों ने अनुभाव की श्रेणी, में स्वीकार किया है। स्थायी एव संचारी भावों को स्पष्ट करते हुए आचार्य भरत ने तीन बातें स्वीकार की हैं। (1) स्थायी भाव ही नाटक (काव्य) में

---

1. विकारा: सत्वसम्भूता: सात्तिवका. परिकीर्तिता: ।
   स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च: स्वरभङ्गोऽथवेपथु: ।।
   वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्तिवका. स्मृता ।।" 134 - 35

   विश्वनाथ-साहित्य दर्पण

रसत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् इन्हीं में इसके रूप में परिणत होने की क्षमता है, जबकि संचारीयों में यह क्षमता नहीं है । §2§ संचारी भाव स्थायी भाव पर आश्रित रहते हैं । §3§ स्थायी भाव स्वामी या नृपति की भाँति प्रमुख होते हैं, तो संचारी भाव सामान्य व्यक्ति की भाँति गौण होते हैं । अपने मत की पुष्टि के लिए भरत ने कोई तर्क या प्रमाण नहीं दिया है, अपितु केवल परम्परागत मत को ही स्वीकार किया है ।[1]

भरत तथा परवर्ती आचार्यों ने स्थायी भाव के स्वरूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करते हुए इसकी अनेक विशेषताओं का उद्घाटन किया है । जो इस प्रकार है ।

1- स्थायी भाव जन्मजात होते हैं और वासना संस्कार रूप में विद्यमान रहते है ।[2]

2- ये प्राणी मात्र में जन्म से ही विद्यमान रहते है ।[3]

3- स्थायी भाव स्थिर रूप में रहते हुए विरोधी या अविरोधी भावों §संचारी भावों§ से उच्छिन्न या तिरोहित नहीं होते ।

4- स्थायी भाव दूसरे भावों §संचारी भावों§ को आत्मसात् कर लेता है तथा संचारी

---

1. तत्राष्टौ भावा: स्थायिन: । त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिण: । अष्टौ सात्त्विका इति भेदा. । तथा विभावानुभावव्यभिचारिण: स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति इत्याश्रयत्वात्स्वाभिभूता. स्थायिनो भावा. । तत्स्थानीय पुरुष गुण भूता अन्ये भावा. । तत्र स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति । परिजनभूता व्यभिचारिणो भावास्तान्गुणतया श्रयन्ते ।
भरत-नाट्यशास्त्र

2. अभिनव गुप्त अभिनव भारती पृ0 479-6

3. स्थायित्वं चैतावतामेव जात एव हि जन्तुरियतीभि. संविद्भि: परीतो भवति।
षष्ठोऽध्याय पृ0 479 अभिनवगुप्त

भाव इन्हीं के आश्रित रहते है ।[1]

5- स्थायी भाव समस्त प्रबन्ध में व्याप्त एव स्थिर रहते है ।[2]

6- स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते है रस वर्वणा आस्वाद या आनन्दरूपता इन्हीं से प्राप्त होती है ।[3]

7- स्थायी भाव की स्थिति भरत के अनुसार इस प्रकार से है, जैसे मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु महान होता है उसी तरह सम्पूर्ण भावों में स्थायी भाव महान होता है ।[4]

शृङ्गार रस

"शृा प्राधान्यम्"[5] इयर्ति इति शृङ्गारः" । शृंग कर्म उपपद रहते ऋृगतौ धातु से "कर्मण्यण्" सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ फिर वृद्धि के अनन्तर शृङ्गार शब्द की निष्पत्ति हुई शृंगा अर्थात् भावना के उच्च शिखर पर पहुँचाने वाला शृगार रस है ।[6]

---

1. विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भवैर्विच्छिद्यते न यः ।
   आत्मभाव नयत्यनयान् स स्थायी लवणाकर. ।।
   दशरूपक 4·34

2. रसगंगाधर / जगन्नाथ

3. भोज एव विश्वनाथ सरस्वती कण्ठाभरण / साहित्य दर्पण

4. यथा नराणा नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरु. । एवं हि सर्व भावनां भाव. स्थायी महनीह ।।
   भरत -- नाट्यशास्त्र -8/7

5- शृंङ्· प्राधान्य-सान्वोश्च -- अमरकोष नानार्थ वर्ग 26

6- शृंगो प्रभुत्वे शिखरे चिन्हे क्रीडाम्बुयन्त्रके । विषाणोत्कर्षयोः
   मेदिनीकोष-3/25,26

नाट्य शास्त्र में इसी शृंगार को गुर्वावर सिद्ध उज्जवल वेशात्मक शुचि और मेध्य स्वीकार किया गया है । भाव प्रकाशन के अनुसार "भावों में जो उत्तम श्रेष्ठ है तथा जिसके आश्रय से भावों की श्रेष्ठ स्थिति - शृंग तक पहुँचा जा सकता है उसे शृंगार कहते हैं ।[1]

आचार्य वाग्भट शृंगार रस का लक्षण इस प्रकार से स्वीकार करते है, "नायिकों और नायक के परस्पर प्रेम को शृंगार कहते हैं । यह शृंगार दो प्रकार का होता है-- संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार,[2] आचार्य मम्मट के अनुसार, "शृंगार के दो भेद है सम्भोग और विप्रलम्भ इनमें प्रथम (संभोग) का परस्पर अवलोकन आलिंगन, अधरपान, चुम्बन आदि भेदों से अनन्त प्रकार का स्वीकार किया जाता है, लेकिन अपरिच्छेद होने के कारण एक ही गिना जाता है । विप्रलम्भ शृंगार अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शापहेतुक, होने के कारण पाँच प्रकार का होता है ।[3] आचार्य रुद्रट के अनुसार, दो परस्पर अनुरक्त, स्त्री पुरुषों

---

1 भावनाभुक्तो यत्न तच्छृंगं श्रेष्ठमुच्यते ।
इयन्ति शृंगं यस्मात्तु तस्माच्छृंगार उच्यते ।। भाव प्रकाशन पृ0 48

2 जायापत्योर्मिथो रत्या वृत्तिः शृंगार उच्चयते ।
संयोगो विप्रयोगश्चेत्येष द्विविधो मत. ।। 5/5 वाग्भटालकार

3 तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्यः परस्परावलोकनालिंगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वाद परिच्छेद: इत्येक एक गण्यते अपरस्तु अभिलाष विरहेर्ष्याप्रवास शापहेतुक इति पंचविधः ॥4/29 - काव्य प्रकाश-मम्मट

का रतिपरक व्यवहार श्रृ·ंगार स्वीकार किया जाता है । यह श्रृंगार दो प्रकार का होता है संयोग और विप्रलम्भ ।[1] आचार्य रामचन्द्र गुण चन्द्र ने नाट्य दर्पण में श्रृ·ंगार रस का लक्षण इस प्रकार से स्वीकार किया है, सम्भोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकार का श्रृङ्गार रस होता है । उनमें से प्रथम अर्थात् (सम्भोग-श्रृङ्गार) अनन्त प्रकार तथा द्वितीय (विप्रलम्भ श्रृङ्गार) 1· मान 2· प्रवास 3· शाप· 4· ईर्ष्या तथा 5· विरह रूप पांच प्रकार का होता है ।[2] शिगभूपालने, "विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और संचारियों के द्वारा सामाजिकों के हृदयों में रस्यमानता को प्राप्त रति को श्रृंगार कहते हैं ।[3] आचार्य भोज ने श्रृङ्गार वीर आदि 10 रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल श्रृंगार को दी है ।[4] श्रृंगार को इन्होंने अहंकार और अभिमान का पर्याय माना है

---

1 व्यवहार पुनार्योरन्योन्यं रमत्यो रति प्रकृति .

श्रृ·ंगार: स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ।।

रूद्रट काव्यालंकार 5/12

2· सभोगो विप्रलम्भात्मा श्रृङ्गार. प्रथमो बहु. ।

मान, प्रवास शापेच्छा-विरहै· पंचधाऽपर ।।

नाट्यदर्पण-रानचन्द्र गुणचन्द्र 10/12

3· विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि ।

आनीयमाना स्वाद्यत्व रति. श्रृङ्गार. उच्चयते ।। 178 रसार्णवसुधाकर

4· श्रृंगार वीर करूणाद्भुतरौद्रहास्य-

वीभत्सवत्सल भयानक शान्त नाम्न. ।

आम्नासिषु दशरसान् सुधियो वयं तु

श्रृंगार मेव रसनाद्रसमामनाम. ।। श्रृंगार प्रकाश पृ0 470 भोज

5· रसोऽभिमानोऽहकार. श्रृङ्गार रति गीयते ।

भोज-- सरस्वती कण्ठाभरण

आवार्य भोजनेइसी अहकार को रस स्वीकार किया तथा भोज के अनुसार इसकी परि परिभाषा है । 'मनोनुकूल दु.खादि भावों में (भी) आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति ।'[1] इसी अहंकार का अपर नाम श्रृंगार है, क्योंकि यही भाव सामाजिक को श्रृं अर्थात् सुख की चोटी पराकाष्ठा तक पहुँचा देता है ।[2] भोज को केवल अहंकार अथवा उनके पर्यायवाची श्रृंगार को ही रस की संज्ञा देनी अभिष्ट है, अन्य तथा कथित रसों को नहीं ।[3] धनंजय के अनुसार, "रमणीय देश कला, काल वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक युवति को जो प्रमोद होता है, वह रति भाव कहलाता है, वही मधुर अग चेष्टाओं से पुष्ट होकर (प्रहृष्यमाणा) श्रृङ्गार रस कहलाता है ।[4]

आचार्यों ने श्रृङ्गार रस का लक्षण करने के उपरान्त उसके भेदों को निम्न प्रकार से स्वीकार किया है- आचार्यवाग्भट ने संयोग और विप्रलम्भ दो प्रकार के श्रृंगार रस स्वीकार किया है, संयोग और विप्रलम्भ श्रृंगार की परिभाषा इस प्रकार है -- नायिका और नायक के मिलन को संयोग श्रृंगार और उन के वियोग

1• मनोऽनुकूलेषु दु.खादिषु आत्मनः सुखाभिमान. रस । - सरस्वतीकण्ठाभरण-भोज

2• येन श्रृं रीयते गम्यते स श्रृंगारः पृ0 477 सरस्वती कण्ठाभरण (भोज)

3• (क) स श्रृंगार. सोऽभिमानः स रसः ।

(ख) रस. श्रृंगार एव एकः ।। पृ0 477 भोज-सरस्वती कण्ठाभरण

4• रम्य देश कलाकाल वेष भोगादिसेवनै : ।।

प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयो. ।

प्रहृष्यमाणा श्रृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ।। 48/चतुर्थ प्रकाश दशरूपक धनंजय

को विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकार करते है । पुन. श्रृगार के दो भेद किये गये है प्रच्छन्न और प्रकाश ।[1] दशरूपककार धनजय और भाव प्रकाशनकार शारदातनय को छोड़कर सभी आचार्यों ने श्रृंगार के दो भेद स्वीकार किये है ।
1• संभोग या संयोग 2• विप्रलम्भ या वियोग इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है । संभोग या संयोग श्रृगार-सम्भोग (सम् पूर्वक√भुज + धञ्) अथवा संयोग (सम्+युज+ कञ्) श्रृगार वह आनन्दपूर्वक अवस्था है जहाँ अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन स्पर्शन इत्यादि का उपभोग करते है । आचार्य भरत के अनुसार संभोग (श्रृंगार) ऋतु, माल्य, अनुलेपन अलंकार इष्टजन गीतादि-विषय पर भवनादि के उपभोग से उपवन, गमन, प्रियवचन, श्रवण, प्रिय-दर्शन तथा उसके साथ की गई लीला क्रीडा आदि से उत्पन्न होता नयनाचातुर्य, भ्रू विक्षेप, कटाक्ष, ललित तथा मधुर अंग चेष्टा, आकर्षक वचनं आदि अनुभावों से प्रतीत होता है । तथा आलस्य जुगुप्सा औग्र्य को छोड़कर अन्य व्यभिचारियों से पुष्ट होता है ।[2] भरत के बाद रूद्रट ने भी श्रृगार के सयोग और वियोग सदोनों ही भेदों को यथावत् स्वीकार किया है । आचार्य रूद्रट के अनुसार "संभोग: सातयो:" (12/6) के अनुसार नायक और नायिक

1• तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्त वियुक्तयो. ।
   प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा मत: ।। 6/5 वाग्भट

2• तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च । तत्र सम्भोग-स्तावत ऋतुमाल्यानुलेपना-
   लंकारेष्टजन विषयवर भवनोपभोगो पवनगमनानुभव नश्रवणदर्शन क्रीडा लीलादि
   भिर्विभावैरुत्पद्यते । नाट्यशास्त्र पृ0 7।। षष्ठोऽध्याय भरत

का सम्पर्क ही श्रृंगार है ईक्षण आदि नहीं इस शंका का खण्डन करते हैं "समान मनोदशा वाले अत्यन्त प्रसन्न नायक और नायिका जो परस्पर दर्शन,भाषण आदि करते है, वह सब संभोग श्रृंगार होता है ।[1] नमिसाधु उक्त प्रसंग की टीका में स्पष्ट किया है, कि परस्पर अवलोकन विश्रम्भालाप उद्यान विहार,पुष्प चयन,जल,क्रीडा, मधुपान,ताम्बूल,सुरतादिक सभी कुछ संभोग श्रृंगार है । निधुवन मात्र को सम्भोग श्रृंगार समझना भारी भूल है ।[2] धनंजय के अनुसार "जहाँ परस्पर अनुकूलता धारण करके विलासी नायक नायिका दर्शन,स्पर्शन आदि का परस्पर सेवन करते है, वहाँ प्रहर्ष उल्लास से युक्त संभोग श्रृंगार होता है ।[3] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त विलासी नायक नायिका परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि का सेवन करते है, वह संभोग श्रृंगार है ।[4]

विप्रलम्भ श्रृंगार

वाग्भट ने नायक नायिका के वियोग को विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकार किया है ।[5] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विप्रलम्भ श्रृंगार नायक नायिका का परस्परानुराग

---

1. अन्योन्यस्य सचितानुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
   आलोकन वचनादि ससर्व सभोग श्रृंगारः ।। त्रयोदशोऽध्याय् ।१। रूद्रट काव्यालंकार
2. नायकौ दम्पती----यदालोकनवचनोधान विहार पुष्पोच्चयन जल क्रीडा मधुपान-ताम्बूलसुरतादिकम् अनुभवत. स सर्व. न तु निधुवन-मात्रम् सभोग श्रृंगार
   1- काव्यालंकार नमिसाधु की टीका ।3/।
3. अनुकूलौनिषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
   दर्शन स्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वित. ।। दशरूपक 4/69
4. दर्शन स्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।
   यत्रानुरक्तावन्योन्य संभोगोऽयमुदाहृत: ।। साहित्य दर्पण 210 तृतीय परिच्छेद
5. तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्त वियुक्तयोः ।
   प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्चपुनरेष द्विधा मतः ।। ।6। वाग्भटालंकार

तो प्रगाढ हुआ करता है, किन्तु परस्पर मिलन नहीं होने पाता।[1] विप्रलम्भ की भी निरुक्ति इस प्रकार से है--

"सम्भोगसुखास्वाद लोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्माऽत्रेति विप्रलम्भः। काव्यानु० 2 30।

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार,"सम्भोग विप्रलम्भात्मा शृंगार प्रथमो बहु.।

मान--प्रवास--शापेच्छा-विरहैः पञ्चधापर ।। 10/112

सम्भोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकार का शृंगार रस होता है। उनमें से प्रथम अर्थात् संभोग शृंगार अनन्त प्रकार का बहु होता है। दूसरा विप्रलम्भ शृंगार 5 प्रकार का होता है (1) मान विप्रलम्भ (2) प्रवास वि० (3) शाप वि० (4) ईर्ष्या वि० (5) विरह विप्रलम्भ।

एक दूसरे के अनुकूल पड़ने वाले और एक दूसरे को प्रेम करने वाले (स्त्री पुरुष रूप) दो विलासियों का जो परस्पर दर्शन स्पर्शन आदि है। वह सम्भोग (शृंगार) स्वीकार किया जाता है। परस्पर अनुरक्त होने पर भी परतन्त्रता आदि के कारण स्त्री पुरुष रूप दोनों विलासियों का परस्पर मिलन न हो सकना अथवा चित्र का विलग हो जाना विप्रलम्भ शृंगार स्वीकार किया जाता है। ये दोनों अवस्था विशेष जिस आस्थावान् प्रेम सम्बन्ध रूप रति के उत्कर्ष रूप शृंगार का आत्मा अर्थात् स्वभाव भूत है वह "संभोग विप्रलम्भात्मा" है। यह इस शब्द का अर्थ है इसलिए गौओं के चितकबरी और काली (शाबलेयत्व और काहुलेयत्व) भेदों के समान ये (सम्भोग तथा विप्रलम्भ) दोनों अलग-2 भेद नहीं है। अपितु सम्भोग में भी विप्रलम्भ

---

1. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।

विश्वनाथ-साहित्य दर्पण

की सम्भावना बने रहने और विप्रलम्भ में भी मन में संयोग का (इच्छात्मक सम्बन्ध विद्यमान रहने से श्रृंगार रस उभयात्मक होता है। किन्तु (किसी एक अंश की) प्रधानता के कारण संभोग श्रृंगार, विप्रलम्भ श्रृंगार इस प्रकार से स्वीकार किया जाता है। दोनों अवस्थाओं के सम्मिश्रण का वर्णन होने पर विशेष चमत्कार होता है।[1] आचार्य भोज ने विप्रलम्भ श्रृंगार की परिभाषा को इस प्रकार से स्वीकार किया है, जहाँ रति नामक भाव प्रकर्ष को तो प्राप्त कर ले पर अभिष्ट को प्राप्त न कर सके वहाँ विप्रलम्भ होता है।[2] पंडित राजान्नाथ ने "स्त्री पुरुषों की वियोग कालावच्छिन्ना रति" को विप्रलम्भ मानते हैं। "वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीय:। रसगंगाधर प्रथम आनन।

आचार्य वाग्भट ने नायक के चार भेद इस प्रकार से स्वीकार किये हैं --- अनुकूल नायक, दक्षिण नायक, शठ नायक और धृष्ट नायक नायिकाओं के भी इसी

---

1. "परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनो. पारतन्त्र्यादेरघाटन विघ्नविशेषो वा विप्रलम्भ"।

"एतौ (विप्रलम्भसंभोगौ) द्वावप्यवस्थाविशेषावात्मा स्वभावो यस्यावस्थातु (तेन श्रृङ्गारस्य) र्दशाद्वयानुयायिन आस्थाबन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य श्रृङ्गारस्य, तेनौ भेदो गोत्वस्येव शाबलेय बाहुलेयावपि तु सम्भोगेऽपिविप्रलम्भ संभावनासद्भावाद् विप्रलम्भेऽपि मनसा सम्भोगानुबंधादुभयसंवलितस्वभाव. श्रृंगार: उत्कटत्वाच्चैकदेशेऽपि सम्भोग श्रृंगारो विप्रलम्भ श्रृङ्गार इति वोपचारेणोच्यते। अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कार:॥

रामचन्द्र-गुणचन्द्र-नाट्यदर्पण तृतीय विवेक

2. भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभिष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते॥
भोज- सरस्वतीकण्ठाभरण - 5/45

प्रकार से चार भेद स्वीकार किये हैं।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार धीरोदात्त नायक धीरललित धीर प्रशान्त ये चार प्रकार के नायक, दक्षिण नायक, धृष्ट नायक, अनुकूल नायक, और शठ नायक के रूपों में विभक्त होकर नायक के सोलह भेद स्वीकार कियें हैं। तथा ज्येष्ठ, मध्यम आदि को लेकर कुल 48 भेद नायक के स्वीकार कियें हैं तथा दशरूपककार ने भी इसी प्रकार से नायक के भेद को स्वीकार किया है। श्रृंगार रस के अन्तर्गत नायक नायिका भेद निरूपक ग्रंथों में रुद्रट का काव्यालंकार, भोज का सरस्वती कण्ठाभरण और श्रृंगार प्रकाश तथा विश्वनाथ का साहित्यदर्पण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, अग्निपुराणकार, वाग्भट्ट प्रथम, हेमचन्द्रसूरि शारदातनय, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, वाग्भट द्वितीय के काव्यशास्त्रों में भी नायक नायिका भेद प्रकरण को स्थान मिला है, लेकिन इन ग्रंथों में नायक-नायिका सम्बन्धि कोई उल्लेखनीय नवीनता उपलब्ध नहीं होती।

आचार्य वाग्भट ने अनुकूल नायक का लक्षण इस प्रकार से स्वीकार किया है, "अनुकूल नायक वह है जो किसी अन्य स्त्री में आसक्त न हो वरन् जिसका अपनी स्त्री में अनुराग "नील" के समान पक्का हो।[2] साहित्यदर्पणकार

1• तत्र च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिण. शठ. ।
धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यान्नायिका स्याच्चतुर्विधा ।। 3/5 वाग्भटालङ्कार

2• नीलीरागोऽनुकूल. स्यादनन्यरमणीरत: । 9/5 – वाग्भटालङ्कार

विश्वनाथ के अनुसार , "अनुकूल" नायक वह है जो एक नायिका के प्रेम में पगा रहा करता है । अभिप्राय यह है, कि एक प्रेमिका के प्रति आसक्ति रखने वाला ही व्यक्ति (अनुकूल नायक) है ।[1] दशरूपककार धनजय के अनुसार "जिस नायक की एक ही नायिका होती है, उसे 'अनुकूल नायक' स्वीकार किया है ।"[2] अनुकूल नायक का अत्यन्त सुन्दर भावचित्र महाकवि भवभूति की इन पंक्तियों में -----

"अद्वैत सुखदु:खयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्, विश्रामो हृदयस्य यत्र
जरसा यस्मिन्नहार्यो रस:, कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे
स्थितं, भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते "॥ 88/2

उत्तररामचरितं अंक 4

आचार्य रूद्रट ने ,"प्रेम एवं स्थिरता से एक ही नायिका में रमण करने वाला "अनुकूल" नायक स्वीकार किया है ।[3]

"अनुकूल" नायक का लक्षण करने के उपरान्त "दक्षिण" नायकलक्षण आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार से स्वीकार किया है, " जो नायक अन्य स्त्री में आसक्त होने पर भी अपनी स्त्री के प्रति प्रेम में विकार उत्पन्न नहीं होने देता उसे "दक्षिण" नायक

1· अनुकूल एक निरत. ।पृ० 143 विश्वनाथ - साहित्य दर्पण

2· "ऽनुकूलस्त्वेक नायिक. । 6/2- धनजय-दशरूपक

3· एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिण: शठो धृष्ट. ।

तत्र प्रेम्ण: स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीक: ।। 9 द्वादशोऽध्याय-रूद्रट

कहते हैं ।"[1] "श्रृंगार प्रबन्ध" की दृष्टि से "दक्षिण" नायक वह है जो एक से अधिक रमणी जन के साथ समान अनुराग रखने वाला है ।[2] साहित्यदर्पणकार की यह "दक्षिण" नायक की परिभाषा दशरूपक की परिभाषा से भिन्न है । दशरूपक के अनुसार "दक्षिण" नायक वह है, जो प्रधान नायिकाओं के प्रति हार्दिक प्रेम करता है।[3] आचार्य रूद्रट के "दक्षिण" नायक सम्बन्धि विचार वाग्भट के विचारों से मिलते हैं। आचार्य रूद्रट ने दक्षिण नायक उसे स्वीकार किया है, जो अन्य नायिका से प्रेम आदि करने पर भी अपनी पहली नायिका में सद्भाव गौरव प्रेम एव भय को खण्डित नही करता, वह दक्षिण नायक है ।[4] आचार्यवाग्भट के अनुसार "शठ" नायक वह है जो परोक्ष में तो अपनी स्त्री का अहित करता हो, किन्तु उसके सामने पड़ने ही {उसे दिखाने के लिये} अपने अन्दर किसी विकार को उत्पन्न न होने देकर मीठी {बनावटी} बातें करता है, उसे "शठ" नायक स्वीकार किया है ।[5] साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार "शठ नायक वह है, जो वस्तुतः किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पूर्व प्रेमिका से'प्रेम'बाहरी प्रेम जताकर छिपकर उसका अनिष्ट किया करे"।[6]

---

1. दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि य. स्यादविकृत. स्त्रियाम् । 9/5
   वाग्भटालंकार

2. एषु त्वनेक महिलासु समरागो दक्षिण. कथित. । 35

3. दक्षिणोऽस्या सहृदय.--
   योऽस्यां ज्येष्ठाया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिण: ।
   दशरूपक 8 द्वितीय प्रकाश

4. खण्डयन्ति न पूर्वस्यां सद्भाव गौरव भयं प्रेम ।
   अभिजातोऽन्यमना अपि नार्यां यो दक्षिण: सोऽयम् ।। -10
   रूद्रट पृ0 376 द्वादशोऽध्याय

5. प्रिय वक्तन्यप्रियं तस्या. कुर्वन्यो विकृत. शठ: । 10/5 वाग्भटालंकार

6. "शठोऽयमेकत्र बद्धभावो य. ।" साहित्यदर्पण-विश्वनाथ

दशरूपककार के अनुसार "पूर्व नायिका का छिपे रूप से अप्रिय करने वाला नायक "शठ" स्वीकार किया जाता है।[1] आचार्य रुद्रट के अनुसार "अत्यधिक प्रिय बोलता हुआ भी जो छिपकर अप्रिय करता है, कुटिल व्यवहार करता हुआ भी जो निरपराधवत् आचरण करता है वह "शठ" नायक ~~स्वीकार किया जाता~~ है।[2]

आचार्य वाग्भट के अनुसार चतुर्थ "धृष्ट" नायक वह है जो (परस्त्रीगमनरूप) अपराध प्रकट हो जाने से अपनी स्त्री के द्वारा अपमानित होने पर भी लज्जित नहीं होता।[3] साहित्यदर्पणाकार विश्वनाथ के अनुसार "धृष्ट" नायक वह है, जो कि प्रेम में अपराधी होने पर भी अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका से झिड़किया खाने पर भी लज्जित नहीं होता और स्पष्ट तथा अपने दोषों के प्रत्यक्ष हो जाने पर झूठ बोलकर उन्हें छिपाने को तैयार रहा करता है।[4] दशरूपककार धनंजय ने "धृष्ठ" नायक को इस प्रकार से स्वीकार किया है, कि जिस नायक के

---

1. "गूढविप्रियकृच्छठ ।" दशरूपक धनंजय

2 वक्ति प्रियमधिक यः कुरुते विप्रिय तथा निभृतम् ।
आचरति निरपराधवदसरल चेष्ट. शठ स इति ।। रुद्रट
काव्यालकार द्वादशोऽध्याय

3. धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्षोऽवमानित ।। 10/5 वाग्भटालकार

4. कृतागा अपि नि. शङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जित. । 36सा०द०
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायक. ।।
~~रुद्रट का०अ० द्वादशोऽध्याय~~ ।

अङ्गों में अन्य नायिका के साथ रमण करने के चिन्ह स्पष्टरूप से प्रतीत होते हों वह धृष्ट नायक है ।[1] आचार्य रूद्रट के अनुसार "जो प्रिया का अप्रिय करने पर भी जो निर्लज्ज हो । अपराध करने के बाद भी जो मिथ्या बोलता है, वह "धृष्ट" नायक है ।[2] आचार्य वाग्भट ने नायक का लक्षण और भेद स्वीकार करने के पश्चात् नायिका भेद और लक्षण को इस प्रकार से स्वीकार किया है । 'नायिकायें' चार प्रकार की स्वीकार की हैं । अनूढा, स्वकीया, परकीया और पराङ्गना इनमें से जो स्वकीया नायिका है, वह उस नायक की होती है जो धर्म, अर्थ और काम की इच्छा रखता है, और जो केवल कामी नायक होते हैं उनके लिए अन्य (अनूढा परकीया और पराङ्गना) नायिकायें हैं ।[3] दशरूपककार धनंजयने3 प्रकार की नायिकायें स्वीकार की है स्वकीया, परकीया, तथा साधारण स्त्री।[4] आचार्य रूद्रट के अनुसार नायिका के तीन भेद सामाजिक बन्धन के आधार पर इस प्रकार हैं -- आत्मीया, परकीया और वेश्या ।[5] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार भी नायिकाए तीन प्रकार होती हैं[6] (1) स्वीया (2) अन्या (अथवा परकीया) और (3) सामान्या ।

1· व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो, ।। दशरूपक-धनंजय

2· कृतविप्रियोऽप्यशङ्को य. स्यान्निर्भर्त्सितोऽपि न विलक्ष ।
प्रतिपादितेऽपि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्ट: ।। -रूद्रट-काव्यालङ्कार द्वादशोऽध्

3· अनूढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।
त्रिवर्गिण. स्वकीया स्यादन्या: केवलकामिन: ।। 5/।। वाग्भटालंकार

4· स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा । दशरूपक

5· आत्मान्यसर्वसक्तास्तिस्त्रो लज्जान्विता यथोक्तगुणा:
सचिवगुणान्वितसख्यस्तास्य स्युर्नायिकाश्चैना: ।। 16-द्वादशोऽध्याय- रूद्रट

6· अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथा सम्भवैर्युक्ता ।। 3/56 विश्वनाथ-साहित्यदर्पण

ना०द० में कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया तथा पण्यस्त्री ये चार प्रकार की नायिकाएँ स्वीकार की गई हैं । वाग्भट के अनुसार नायिकाओं का लक्षण इस प्रकार है --

"अनूढा" नायिका का लक्षण वाग्भट के अनुसार ,"जो (अविवाहिता) अनुरक्ता नायिका किसी आसक्त नायक के द्वारा (बिना गुरूजनों की आज्ञा के) स्वयं ही स्वीकार कर ली जाय, उसे "अनूढा" नायिका कहते हैं । जिस प्रकार राजा दुष्यन्त की नायिका शकुन्तला थी [1] ।"

"स्वकीया नायिका" उसे स्वीकार किया है, जो क्षमाशील अत्यन्त गम्भीर प्रकृतिवाली सच्चरित्रता से युक्त स्त्री देवता और गुरूजनों को साक्षी मानकर स्वीकार को जाती है । (उसे स्वकीया नायिका स्वीकार किया है) [2]

"परकीया" अनूढा के समान स्वीकार किया है, उन दोनों में भेद इस प्रकार है (परकीया नायिका) अत्यन्त कामातुर होकर स्वयं ही प्रिय वचनों से अपने (सुरति-अभिलाषारूप) आशय को प्रकट करती है और दूसरी (अनूढा) अपने आशयको सखी के द्वारा ही व्यक्त करती है । [3]

आचार्य वाग्भट ने "पराङ्गना" नायिका उसे स्वीकार किया है, जो छल कपट में चतुर वेश्या (गणिका) होती है, धन देने वाले नायक के अतिरिक्त उस नायिका को और कोई भी व्यक्ति प्रिय नहीं होता । [4] आचार्य वाग्भट ने वेश्या

1· अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत् ।
सानूढेति यथा राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ।।5/12 वाग्भटालकार

2· देवतागुरूसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका ।
क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृति सच्चरित्रभृत् ।। 5/13

3· परकीयाप्यनूढेव वाच्यभेदोऽस्ति वानयो:
स्वयमभ्येति कामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ।। 5/14 वाग्भटालकार

4· सामान्यवनिता वेश्या भवेत्कपटपण्डिता ।
न हि कश्चित्प्रियस्तस्या दातारं नायकं बिना ।। 5/15 वाग्भट

को अनूढ़ा, स्वकीया, और परकीया नायिकाओं से भिन्न माना है । वह ﴾वेश्या﴿ कामातुर होकर सबके सामने ही अपने नायक के पास चली जाती है; किन्तु अन्य तीन ﴾अनूढ़ा, स्वीकीया, परकीया﴿ नायिकाओं का अपने प्रियतम के पास समागम गुप्त ही वर्णित स्वीकार किया गया है ।[1]

आचार्य धनंजय ने दशरूपक में इन नायिकाओं का वर्णन इस प्रकार से स्वीकार किया है, दशरूपककार के अनुसार स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री ये तीन प्रकार की नायिकाएँ होती हे । "स्वकीया" नायिका उसे स्वीकार किया है, जो शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है तथा मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है ।[2]

अन्य स्त्री "परकीया" दो प्रकार की होती है-- कन्या तथा विवाहिता अन्य विवाहिता स्त्री ﴾परोढ़ा﴿ को ~~कभी भी~~ प्रधान रस की नायिका नहीं स्वीकार की है । कन्या के अनुराग को तो कवि इच्छा के अनुसार प्रधान या अप्रधान रस का आधार बना सकता है । अर्थात् ﴾कन्या प्रधान रस की नायिका हो सकती है और अप्रधान रस की भी यह कवि की इच्छा पर निर्भर होता है ।﴿[3]

---

1. सर्व प्रकाशमेवैषा याति नायकमुन्नता ।
   बाच्य: प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागम: ।। 5/16 वाग्भट
2. मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ।। 15 द्वितीय प्रकाश दशरूपक
3. अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ।
   कन्यानुरागमिच्छात: कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।। 20 द्वितीय प्रकाश दशरूपक-धनजय

साधारण स्त्री (सामान्य नायिका) दशरूपककार के अनुसार 'गणिका' (वेश्या) साधारण स्त्री स्वीकार की गई है । यह कला, प्रगल्भता तथा धूर्तता से युक्त हुआ करती है ।[1]

आचार्य रुद्रट के अनुसार सामाजिक बन्धन के आधार पर नायिका के तीन-भेद स्वीकार किये है । आत्मीया, परकीया, और वेश्या । आचार्य रुद्रट के अनुसार "आत्मीया" नायिका पवित्र नागरिक आचार व्यवहार में निपुण शील, दया, सरलता, क्षमा आदि (गुणों से) युक्त स्वीकार की गई है । यह तीन प्रकार की मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा होती है ।[2] रुद्रट ने "परकीया" नायिकाओं को दो प्रकार से स्वीकार किया है । 'कन्या' और 'विवाहिता' । नायक को देखकर अ अथवा उसके विषय में सुनकर ये दोनों कामदेव से अति पीड़ित हो जाती हैं ।[3] ऊढा-- (परकीया नायिका का) अन्य (भेद है) 'ऊढा' अर्थात् 'विवाहिता' (नायक के) प्रेम को प्राप्त होने पर यह उपर्युक्त सब कुछ वैसा ही करती है । वह प्रौढ़ भाव से ही नायक के सामने होकर उससे सम्मिलन करती हैं ।[4]

---

1. साधारण स्त्री गणिका कला प्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् । 2/द्वितीय प्रकाश दशरूपक
2. शुचिपौराचाररता चरित्रशरणार्जवक्षमायुक्ता ।
   आत्मीया तु त्रेधा मुग्धा, मध्या प्रगल्भा च ।। 17/ द्वादशोऽध्याय रुद्रट काव्या-अलंकार
3. परकीया तु द्वेधा कन्योढा चेति ते हि जायेते ।
   गुरुमदनार्ते नायक मालोक्याकर्ण्य वासम्यक् ।। 30/ द्वादशोऽध्याय रुद्रट-काव्यालङ्कार
4. अन्योढापि तथैतत्सर्वं कुरुतेऽनुरागमापन्ना ।
   नायकमभियुङ्क्ते सा प्रागल्भभावेन पुरतश्च ।। 36/द्वादशोऽध्याय रुद्रट-काव्यालङ्कार

वेश्या §गणिका§ रूद्रट के अनुसार,"सर्व साधारण को प्रिया को वेश्या स्वीकार किया है । वह एक मात्र धन ही चाहती है । अत. कोई गुणी व्यक्ति न तो उसे प्रिय होता और न मूर्ख अप्रिय ।[1]

गम्य §जिस पुरूष के पास धन एवं यौवन को देखकर अपने प्रति गम्य अर्थात् रमणके योग्य समझती है उस§ पुरुष को देखकर वह उसे अनुरक्ता की भाँति प्रसन्न करती है । उसके सम्पूर्ण सार §धन§ को निचोड़कर उसे बाहर निकाल देती है ।[2]

"विप्रलम्भ" वह श्रृंगार है जिसमें नायक-नायिका का परस्परानुराग तो प्रगाढ़ हुआ करता है, किन्तु परस्पर मिलन नहीं स्वीकार किया गया है । "विप्रलम्भ" की निरूक्त इस प्रकार से स्वीकार किया है---"संभोग सुखास्वाद लोभेन विशेषेण प्रलभ्यते आत्माऽनेति विप्रलम्भ. ।" का० नु० शा० 2·30

आचार्य वाग्भट ने "विप्रलम्भ श्रृंगार चार प्रकार का स्वीकार किया है--पूर्वानुरागात्मक,मानात्मक,प्रवासात्मक और करूणात्मक । इसमें क्रमश पूर्व का वियोग उत्तरोत्तर से श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है,जैसे करूणात्मक की अपेक्षा प्रवासात्मक, प्रवासात्मक की अपेक्षा मानात्मक और मानात्मक की अपेक्षा पूर्वानुरागात्मक विप्रलम्भ उत्तम स्वीकार किया है ।[3]

1· सर्वांगना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धन कामात् ।
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रिय. कश्चित् ।। 39
रूद्रट-काव्यालङ्कार-द्वादशोऽध्याय

2· गम्यं निरूप्य सा स्फुटमनुरक्ते वाभियुज्यरञ्जयति ।
आकृष्टसकलसारं क्रमेण निष्कासयत्वेनम् ।। 40/रूद्रट-काव्यालङ्कार-द्वादशोऽध्याय

3· पूर्वनुरागमानात्मप्रवास करूणात्मक: ।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात्पूर्वपूर्वो ह्य गुरू: ।। 17/5 वाग्भट

अथ क्रमेणैतेषा लक्षणान्याह--

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयो. ।
ज्ञेय. पूर्वानुरागोऽयनपूर्णस्पृहयोर्दशा ।। 5/18 - वाग्भट

अर्थात् प्रथम दर्शन (अथवा श्रवण) मात्र से ही जिन स्त्री पुरुषों में परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया हो, किन्तु जिनकी समागम अभिलाषा अभी पूरी न हुई हो उन स्त्री पुरुषों की दशा को'पूर्वानुराग' स्वीकार करते है ।

मान और प्रवास का लक्षण--

मानोऽन्यवनितासङ्ग•ादीर्ष्याविकृति रुच्यते ।
प्रवास. परदेशस्थे प्रिये विरहसम्भव. ।। 5/19 - वाग्भट

प्रिय के अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण ईर्ष्यावश नायिका के हृदय में जो विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी को'मान विप्रलम्भ' स्वीकार किया है । और प्रिय के परदेश में होने पर जो वियोग उत्पन्न होता है, उसको'प्रवास' स्वीकार किया है । करूण विप्रलम्भ श्रृंगार का उदाहरण इस प्रकार है--

स्योदकतरपंचत्वे दम्पत्योरनुरक्तयो. ।
श्रृङ्गार: करूणारव्योऽयं वृत्तवर्णन एव स: ।। 5/20 - वाग्भट

परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष में किसी एक स्त्री अथवा पुरुष के देहावसान हो जाने पर'करूण विप्रलम्भ'श्रृङ्गार स्वीकार किया है । (करूण-श्रृङ्गार) वृत्तवर्णन में ही स्वीकार किया है (जैसे "कादम्बरी" में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त है)। काव्यप्रकाश 4•29 वृत्ति में अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप के हेतु से होने वाला पाँच प्रकार का विप्रलम्भ श्रृङ्गार मम्मट ने स्वीकार किया है । ना०द० 3•166 में मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह ये पाँच भेद विप्रलम्भ श्रृङ्गार के स्वीकार किये गये है । साहित्य दर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने 3•187 में पूर्वराग

मान,प्रवास और करूण विप्रलम्भ ये चार भेद स्वीकार किये हैं । का० प्र० का 'अभिलाष विप्रलम्भ' तथा सा० द० का 'पूर्वाराग वि०', दश० के 'आयोग' में स्वीकार किया जाता है ।

आचार्य विश्वनाथ ने चार प्रकार के विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकार किया है, पूर्वराग, मान,प्रवास और करूण ।[1]

पूर्वराग विप्रलम्भ---

इसका अभिप्राय है, रूप सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की उस दशा का जोकि उनके समागम के पूर्व की दशा हुआ करती है ।[2] साहित्य दर्पणकार ने 'विप्रलम्भ श्रृंगार' में "मरण" का वर्णन नहीं स्वीकार किया ﴾निषिद्ध माना है﴿ क्योंकि इससे रस विच्छिन्न हो जाता है । किन्तु यदि इसका वर्णन किया भी जाए, तो केवल दो प्रकार से ही स्वीकार किया जा सकता है । ﴾1﴿ मरणासन्न दशा के रूप में और ﴾2﴿ मरण की हार्दिक अभिलाषा के रूप में ।[3]

भाव प्रकाशनकार ने अमंगल की दृष्टि से मरण का वर्णन निषेध किया है ।[4]

1• स च पूर्वरागमान प्रवास करूणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ।
   विश्वनाथ--साहित्यदर्पण --187

2• श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथ. संरूढ़रागयो: ।
   दशाविशेषोयोऽप्राप्तौ पूर्वराग स उच्यते ।।
   विश्वनाथ-साहित्यदर्पण --188

3• रसविच्छेदहेतुत्वान्मरण नैव वर्ण्यते ।। 193 साहित्य दर्पण
   जातप्रायं तु तद्वाच्य चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
   वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरत. ।। 194 विश्वनाथ-साहित्यदर्पण

4• आस्ववस्थासु विहितै: प्रतीकारै: समागम. ।
   न भवेद् यदि कामाग्निदग्धयोर्मरणं भवेत ।।

मान विप्रलम्भ--"मान" का अभिप्राय "कोप" से है । ﴾प्रणय कोप﴿ का इसके दो भेद स्पष्ट है--

﴾1﴿ प्रणय समुद्भवमान ﴾प्रणय मान﴿ और ﴾2﴿ ﴾ईर्ष्यासमुद्भवमान﴿ । ईर्ष्यामान । प्रणयमान का तात्पर्य अकारण कोप है । प्रेम की चाल सदा टेढ़ी हुआ करती है । प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम के भरे रहने पर भी उनका एक दूसरे पर अकारण कोप स्वाभाविक है इसलिए "प्रणयमान" भी ﴾असयोग में रति भाव की अभिव्यजना का﴿ एक विशेष ही विप्रलम्भ प्रकार है ।[1]

ईर्ष्यामान विप्रलम्भ- इसका अभिप्राय यह है, कि किसी दूसरी प्रेमिका पर अपने प्रेमी की आसक्ति के देखने सुनने अथवा अनुभव करने के कारण नायिका के प्रेम कोप का यहाँ नायक की अन्य प्रेमिकासक्ति का जो अनुमान है, वह तीन प्रकार का है ।[2]

प्रवास विप्रलम्भ-- "प्रवास" का अभिप्राय है, कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश नायक के देशान्तरगमन का ﴾ और इसके कारण जो विप्रलम्भ है, उसे "प्रवास विप्रलम्भ" स्वीकार किया है ।﴿ प्रवास विप्रलम्भ मे नायिका की निम्न चेष्टाएँ स्वीकार की

---

1. मान. कोप: स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव. ।
   द्वयो. प्रणयमान. स्याद् प्रमोदे सुमहत्यपि ।। 198 सा0द0
   प्रेम्णकुटिलगामित्वात् कोपो य. मरण विना ।

2. पत्युरन्यप्रियासङ्गे. दृष्टेऽथानुमिते श्रुते । ,199 विश्वनाथ-साहित्यदर्पण
   ईर्ष्यमानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
   उत्स्वप्नायित भोगाङ्क-गोत्रस्खलनसम्भवा ।। 200 सा0द0

गई हैं-- अंगमालिन्य, वस्त्र मालिन्य, एक वेणी धारण, निश्वास, उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि।[1]

करुण विप्रलम्भ-- साहित्यदर्पणकार के अनुसार "करुण" विप्रलम्भ वह शृंगार है, जिसमें प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने किन्तु "पुनरुज्जीवित" हो जाने की अवस्था में जीवित बचे एक दूसरे के हृदय के शोक सम्वलित रतिभाव का अभिव्यंजन स्वीकार किया गया है ।[2]

"कादम्बरी" के पुण्डरीक महाश्वेता वृत्तान्त में पुनरुज्जीवित होने वाले पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता के शोक संविग्न रतिभाव का अभिव्यंजन इसमें -- प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक की मृत्यु से मिलन की अत्यन्त निराशा अथवा परलोक में मिलन की आशा की अवस्था में जो रस अभिव्यंग्य होगा, उसे "करुण रस" स्वीकार किया है । क्योंकि मिलन की आशा के अभाव में रति कहाँ? वहाँ तो शोक ही शोक संभव है । न कि "करुण विप्रलम्भ" शृंगार । "करुण विप्रलम्भ" और करुण रस में अंतर यह है, कि "करुण रस" में मिलन की सम्भावना समाप्त हो जाती है, किन्तु "करुण विप्रलम्भ" में मिलन की आशा बनी रहती है ।"करुण विप्रलम्भ" का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कादम्बरी में महाश्वेता-वृत्तान्त के अन्तर्गत

---

1. प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
   तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः । 204 सा०द०
   निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते । विश्वनाथ-साहित्यदर्पण
2. यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
   विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ।। 209 -
   विश्वनाथ-साहित्यदर्पण

उपलब्ध होता है। पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता को सर्वप्रथम करुण रस की ही अनुभूति हुई थी, किन्तु आकाशवाणी सुनने के बाद प्रिय मिलन की आशा स्फुरित हो जाने पर "करुण विप्रलम्भ' ही स्वीकार किया जायेगा।

जहाँ भी प्रिय जीवित हैं और प्रियमिलन की सम्भावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई, वहाँ विप्रलम्भ श्रृंगार स्वीकार किया जायेगा।

मम्मट द्वारा स्वीकार किये गये पाँच प्रकार के विप्रलम्भ श्रृंगार विश्वनाथ के चार भेदों के समान हैं। मम्मट का "अभिलाष हेतुक वियोग" विश्वनाथ का "पूर्वराग" या "पूर्वानुराग" ही है। मम्मट के ईर्ष्याहेतुक का सम्बन्ध विश्वनाथ के "मान विप्रलम्भ" से है। "प्रवास" दोनों के समान है "शाप" का अन्तर्भाव "प्रवास" के अन्तर्गत स्वीकार किया है। "करुण" का अन्तर्भाव भी 'प्रवास' के अन्तर्गत है। मम्मट का विरह हेतुक विप्रलम्भ अवश्य ही ऐसा है जो मौलिक स्वीकार किया गया है। समीप रहने पर भी जब गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम न हो तब "विरहहेतुक" स्वीकार किया जाता है।

वीर रस

"श्रृंगार के पश्चात् आचार्य वाग्भट ने "वीर" रस का उल्लेख किया है, "वीर" रस का अन्य रसों में प्रमुख स्थान है। वाग्भट के अनुसार "वीर" रस का स्थायी भाव "उत्साह" है। "वीर" रस तीन प्रकार का होता है। "धर्मवीर" "युद्धवीर" और दानवीर" यहाँ (वीर रस का) नायक सभी प्रशंसनीय गुणों से सम्पन्न स्वीकार किया गया है।[1]

---

1. उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्मजिदानतः।
   नायकोऽत्र भवेत्सर्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः।।

वाग्भट 5/21

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार,"वीर रस" को "उत्साह" रूप स्थायी भाव का आस्वाद स्वीकार किया है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते है। इसका वर्ण "स्वर्ण" और इसके देवता "महेन्द्र" हैं। इसके "आलम्बन" विभाव विजेतव्य शत्रु आदि है, और इन विजेतव्य शत्रु आदि की चेष्टायें उद्दीपन विभाव है। युद्धादि की सामग्री तथा सहायक साधनों के अन्वेषण इसके "अनुभाव" रूप है। धृति,मति,गर्व,स्मृति,तर्क,रोमाच आदि इसके 'व्यभिचारी भाव' हैं। इसके चार भेद स्पष्ट है।[1] 1- दानवीर 2- धर्मवीर 3- युद्धवीर 4- दयावीर तात्पर्य यह है कि वीर रस ही दान,धर्म,युद्ध और दयावीर रूप में चतुर्विध प्रतीत हुआ करता है।

1- दानवीर-- परशुराम के दान विषय उत्साह का "महावीर चरित" में यह अभिव्यंजन है।

2. धर्मवीर-- युधिष्ठिर के हृदय के धर्मोत्साह का यह अभिव्यजन है।

3. युद्धवीर-- "बालरामायण" में अंकित राम के युद्धोत्साह का यह अभिव्यंजन है।

4. दयावीर-- "नागानन्द" में जीमूतवाहन के हृदय के दयाविषयक उत्साह का

---

1. उत्तम प्रकृति वीर उत्साहस्थायिभावक: ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृत ।। 232
आलम्बनविभावस्तु विजेतव्यादयो मता: -
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिण: ।
अनुभावास्तु तत्र स्यु: सहायान्वेषणादय: ।। 233
संचारिणस्तु धृतिमतिगर्व स्मृति तर्क रोमाचा: ।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्
234 साहित्य दर्पण-विश्वनाथ

यह अभिव्यजन/आचार्य दशरूपककार "धनजय" के अनुसार,प्रताप, विनय,अध्यवसाय, सत्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, पराक्रम इत्यादि ≬विभावों≬ के द्वारा होने वाले उत्साह ≬स्थायी भाव≬ से वीर रस होता है । "वीर रस" दया युद्ध और दान ≬अनुभावों≬ के योग से तीन प्रकार का स्वीकार किया है ।[1] "काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र" के ने भी तीन प्रकार का वीर रस स्वीकार किया है । हेमचन्द्र के अनुसार धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर ही वीर रस के भेदत्रय के रूप में सिद्ध होते है ।[2] आचार्य भरत ने भी तीन प्रकार का "वीर रस" स्वीकार किया है । भरत के अनुसार "वीर रस" उत्साहात्मा है और उत्तम स्वभाव वाले पुरूषों में रहता है । ≬वीर रस≬ असम्मोहाध्यवसाय विनय, बल पराक्रम, शक्ति प्रताप एव प्रभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, त्याग, वैशारद्य एवं रोमाच आदि अनुभावों के द्वारा स्वीकार किया गया है । इसके व्यभिचारी भाव धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, स्मृति एव चिन्ता आदि हैं ।

1• वीर: प्रतापविनयाध्यवसायसत्व
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यै: ।
उत्साहभू: स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृति प्रहर्षा. ।। 72 दशरूपक-धनजय

2•"नयादिविभाव: स्थैर्याद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचार्युत्साहो धर्म दान युद्ध भेदो वीर: ।"
काव्यानुशासन-हेमचन्द्र

असमोहाध्यवसाय,अविषाद,अविस्मय, अमोह एव विविध अर्थ विशेष से वीर रस उत्पन्न होता है । स्थिति, धैर्य, वीर्य, गर्व तथा उत्साहन, पराक्रमण प्रभावन एव आक्षेप प्रधान वाक्यों से वीर रस का अभिनय स्वीकार किया है ।[1] आचार्य रुद्रट के अनुसार,"वीर रस" का स्थायी भाव है,"उत्साह" युद्ध, धैर्य और दान इन तीन विषयों में वह तीन प्रकार का स्वीकार किया गया है । वीर रस में इतिहास प्रसिद्ध अक्षुब्ध नायक होता है ।[2] वह नीति, विनय, सेना, पराक्रम, गम्भीरता, उदारता, शूरता और कुशलता से युक्त प्रजाप्रिय कर्तव्य परायण और साहसिक कृत्यों वाला होता है । उत्साह स्थायी भाव है, धर्म, दान और युद्ध तीन उसके विभाग हैं, नायक के गुण अनुभाव है । तेज लडाई में

1· वीरो नामोत्तम प्रकृति रुत्साहात्मक. स चासंमोहाध्यवसायनयविनय बल पराक्रम शक्ति प्रताप प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य स्थैर्य धैर्य त्याग वैशारद्यरोमाचादि भिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य भावाश्चास्य धृति मति गर्वावेगौग्र्यामर्ष स्मृति चिन्तादय· ।

असम्मोहाध्यवसायादविषादित्वाद विस्मयामोहात् ।
विविधादर्थ विशेषाद्वीरसो नाम सम्भवति ।। 67
स्थितिधैर्य वीर्य गर्वैरुत्साहपराक्रम प्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैवीररस· सम्यगाभिनेय· ।। 68

भरत - नाट्यशास्त्र

2· उत्साहात्मा वीर. स त्रेधा युद्ध धर्म दानेषु ।
विषयेषु भवति तस्मिन्न क्षोभो नायक स्यात. ।। 1/5

काव्यालङ्कार - रुद्रट

सामर्थ्य का नाम बल है, शत्रुओं पर जबर्दस्ती आक्रमण पराक्रम है, गाम्भीर्य नाम नाम है, कहीं बीच बचाव न करने का, अपने सेवकों और दूसरों के प्रति दान (त्याग) विश्वास और प्रिय वचन को औदार्य स्वीकार किया है। लड़ाई में एकत्व (अकेले पराक्रम दिखाने का) नाम शौर्य है। त्याग के कारण विघ्नमान होने पर भी योग्य कार्य का अत्याग शौर्य अर्थात् धैर्य स्वीकार किया है।[1] नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार, पराक्रम, बल, न्याय, यश और तत्व विनिश्चय आदि से "वीर" रस होता और रोमांच तथा दान के द्वारा उसका अभिनय स्वीकार किया है।[2]

करूण रस

करूण को सभी रसों में प्रमुख स्थान देने का श्रेय किसी आचार्य को नहीं समीक्षक को नहीं अपितु एक "कवि" को दिया जाता है "महाकवि भवभूति" को करूण का सर्वोत्कृष्ट कवि स्वीकार किया जाता है। "कारूण्यं भवभूतिरेव तनुते" इसका साक्षात् निदर्शन उत्तररामचरितम् में होता है। जिसमें शिला भी रोती

---

1. नयविनय बल पराक्रमगाम्भीर्यौदार्य शौर्यैः ।
   युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भ. ।। 2/5 (काव्यालंकार-रूद्रट)

2. पराक्रम बल-न्याय-यशस्तत्वविनिश्चयैः ।
   वीरोऽभिनयन तस्य धैर्य-रोमांच-दानत. ।। 16/118

   नाट्य दर्पण- रामचन्द्र गुणचन्द्र

है तथा वज्र के हृदय भी टूक-टूक हो जाते है। इसकी नायिका सीता तो करुण की साक्षात् मूर्ति है।

उत्तररामचरित के तृतीय अंक के उपान्त्य पद्य में भवभूति ने कहा है "एको रस: करुण एव" "निमित्तभेद" अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के भेदसे निष्पन्न होने वाला रस एक मात्र करुण ही वीर एवं श्रृंगार आदि के रूप में सहृदय सामाजिक की प्रतीति का विषय स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार वही जल परिस्थिति वश कहीं बुद्-बुद् तो कहीं तरंग आदि के रूप में बदला हुआ दिखाई देता है, पर वस्तुस्थिति यह है कि वह उन रूपों में पर्यवसित नहीं होता लेकिन "प्रतीति" मात्र होता है।

"करुण" को सभी रसों में श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है श्रृंगार, हास्य एवं क्रोध प्रभृति भाव इतना व्यापक नहीं है जितना "करुण"। गुरु, देवता एवं पुत्र आदि विषयक रति श्रृंगार नहीं हो सकती। न ही पुत्रादि विषयक क्रोध रौद्रता को प्राप्त करता सकता है। गुरुजन एवं राजा विषयक स्खलन भी हास का परिपोष नहीं करता। लेकिन सर्व विषयक शोक "करुण" होता है। शोक का होना आवश्यक है, चाहे "कान्ता विषयक" गुरुजन अथवा परिजन या पशु पक्षी विषयक ही क्यों न हो। करुण की भावना इतनी व्यापक स्वीकार की जाती है, कि उसमें सभी भावों का समावेश हो जाता है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार चित्त द्रुति की चरम परिणति करुण है — "श्रृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।" आदि कवि वाल्मीकि की क्रौंचवधजन्य शोक भावना की अभिव्यक्ति ही रामायण है।

क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत:। 1/5 ध्वन्यालोक

आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार से स्वीकार किया है, कि प्रबन्ध में एक ही प्रधान

(और) रस उपनिबद्ध होकर अर्थ-विशेष की सिद्धी तथा चारूत्वातिशय का पोषण करता है। जैसे 'रामायण में' अथवा जैसे कि 'महाभारत में'। "रामायण" में "शोक ही श्लोक बन गया" ऐसा स्वीकार करने वाले स्वयं आदि कवि ने 'करूण रस' को सूत्र के रूप में सूचित कर दिया है। और सीता के निरवधि वियोग तक ही अपने प्रबन्ध की रचना कर उसी करूण का निर्वाह भी स्वीकार किया है।[1] करूण रस की श्रेष्ठता के पश्चात् आचार्यों ने इसका लक्षण और परिभाषा भिन्न-2 प्रकार से स्वीकार किया है। आचार्यवाग्भट ने करूण रस का लक्षण इस प्रकार से स्वीकार किया है-"शोक से उत्पन्न (अथवा शोक स्थायीभाव वाले) रस को "करूण" स्वीकार करते हैं। इस करूण रस में पृथ्वी पर गिरना, रूदन (मुख का) पीलापन, मूर्च्छा, वैराग्य, प्रलाप और अश्रुओं का वर्णन स्वीकार किया है।[2] आचार्य भरत के अनुसार, "शोक रूप स्थायी से उत्पन्न होने वाले करूणरस का निरूपण इस प्रकार से स्वीकार किया है (वह करूण) शाप जनित, क्लेश में गिरे हुए, प्रियजन से विप्रयोग, विभवनाश, बध एवं बन्ध तथा लोक विद्रव, भगदड़, उपघात, चोट लगने एवं दुर्व्यसनों में फँसने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। करूण का अभिनय अश्रुपात, रोदन, तालुओं के सूखने, मुख के वैवर्ण्य, गात्र की स्रस्तता, शिथिलता,

---

1. प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति ॥ यथा रामायणे यथावा महाभरते। रामायणे हि करूणो रसः स्वयमादिकविना सूचित. "शोक श्लोकत्वमागत." इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त वियोगपर्यन्तमेव स्व प्रबन्धमुपरचयता। ध्वन्यालोक पृ0 369 (आनन्दवर्धन)

2. शोकोत्थः करूणो ज्ञेयस्तत्र भूपातरोदने।
वैवर्ण्य मोह निर्वेद प्रलापाश्रूणि कीर्तयेत् ॥
5/22 (वाग्भट)

नि. श्वास, स्मृति लोप, प्रलय, स्तब्धता, वेपथु एव स्वर भेद आदि अनुभावों से अभिनय स्वीकार किया है। इसके "व्यभिचारी" निर्वेद; ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि जडता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण आदि है।[1] इस प्रसंग की दो आर्या है--

इष्ट के वध को देखने से अप्रिय वचनों के सुनने से और उपर्युक्त भाव विशेषों से करूण रस संभव होता है। ॥62॥[2]

चिल्लाकर रोने, मूर्च्छा के आ जाने परिदेवित यानि अपने या दैव को उपालम्भ देते हुए, विलाप करने देह के तोड़ने एव छाती के पीटने से करूण रस का अभिनय ~~स्वीकार~~ किया है।[3] 63

---

1. अथ करूणो नाम शोक स्थायि भाव प्रभव । स च शाप क्लेशविनिपतितेष्ट जनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धविद्रवोपघातव्यसन सयोगादि भिर्विभावै: समुपजायते । तस्याश्रुपातपरिदेवनतालुमुख शोषणवैवर्ण्यार्गस्त्रस्तगात्रतानि. श्वासस्मृतिलोप स्तम्भवेपथुस्वरभेदादि ~~शोषणवैवर्ण्यार्गस्त्रस्तगात्रतानि.~~ भिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य. व्यभिचारिणश्चास्यनिर्वेदग्लानिचिन्तात्सुक्यावेग भ्रम मोहश्रम भयविषाददैन्य व्याधि जडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणाद्य. । भरत-नाट्यशास्त्र

2. इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि ।
   एभिर्भावविशेषै. करूण रसो नाम संभवति ।। 62

3. सस्वनरूदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
   अभिनेय. करूणरसो देहायासाभिघातैश्च ।। 63

भरत-नाट्य शास्त्र

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार करुण रस का लक्षण-- "किसी प्रियजन के" मृत्यु, बन्धन, धन नाश शाप तथा विपत्ति आदि (को देखने) से करुण रस उत्पन्न होता है। आँसुओं (चेहरे की) विवर्णता तथा (भाग्य की) निन्दा आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।[1]

प्रियजन के वियोग को कराने वाली दिव्य प्रभाव वाले व्यक्ति की अप्रसन्नता शाप स्वीकार किया जाता है। अनर्थ (का नाम) "व्यसन" है। इससे देश नाश से होने वाले विप्लव-समुदाय का ग्रहण होता है। इन विभावों के द्वारा शोक रूप स्थायि भाव वाला "करुण" रस उत्पन्न होता है। आँसू (चेहरे की) विवर्णता नि. श्वास, मुख सूखना, स्मृति का लोप, शरीर की शिथिलता आदि अनुभाव भी सूचित होते है। निन्दा से अपनी निन्दा भाग्य को अथवा अर्थों को उलाहना देना (अभिप्रेत है) इससे रोने, प्रलाप करने और छाती-पीटने का भी संग्रह होता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, आलस्य, मरण, स्तम्भ वेपथु वैवर्ण्य अश्रु स्वरभेद आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।

रुद्रट के अनुसार करुण का स्थायी भाव शोक है। वह इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से होता है। इसमें नायक भाग्य से हत चिन्तित होता है। अनवरत अश्रुधार, प्रलाप, विवर्णता, मोह, निर्वेद धरती पर छटपटाना

---

1. मृत्यु बन्ध धन भ्रंश शाप व्यसन संभव ।
करुणोऽभिनयस्तस्य वाष्प वैवर्ण्य निन्दन. ।। 14/116
(नाट्य दर्पण-रामचन्द्र गुणचन्द्र)

विलाप करना भाग्य को दोष पूर्ण समझना आदि "करुण" के अनुभाव है ।[1]

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, करुण वह रस है, जिसे शोक रूप स्थायि भाव का पूर्णाभिव्यजन स्वीकार किया गया है । इसका आविर्भाव इष्ट नाश और अनिष्ट प्राप्ति से सम्भव है । इसका वर्ण "कपोत है और देवता "यम"को स्वीकार किया है । इसका स्थायी भाव'शोक'आलम्बन "विनिष्ट व्यक्ति है, इसके उद्दीपन वर्ग में "दाह कर्म"आदि की गणना है । दैवनिन्दन भूनिपतन, क्रन्दन, वैवर्ण्य, उच्छवास, निःश्वास स्तम्भ, प्रलयन आदि इसके अनुभाव स्वीकार किये गये हैं । साथ ही साथ निर्वेद , मोह अपस्मार व्याधि, ग्लानि स्मृति श्रम विषाद जड़ता उन्माद और चिन्ता आदि इसके व्यभिचारीभाव है ।[2]

---

1. करुण. शोक प्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तित. प्राप्तेः ।
   इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहितो नायकस्तत्र ।। 3/15
   अच्छिन्ननयन सलिलप्रलापवैवर्ण्य मोह निर्वेदा.
   क्षिति चेष्टनपरिदेवन विधिनिन्दाश्चेति करुणे स्युः ।। 4/15
   रुद्रट काव्यालङ्कार

2. इष्ट नाशादनिष्टाप्ते. करुणाख्यो रसो भवेत् ।
   धीरै. कपोतवर्णोऽय कथितो यमदैवत ।। 222 सा०द०
   शोकोऽत्रस्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बन मतम् ।
   तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपन पुन. ।। 223
   अनुभावा दैवनिन्दाभूपात क्रन्दितादयः ।
   वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलयनानि च ।। सा०द० 224
   निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानि स्मृतिश्रमाः ।
   विषाद जड़तोन्माद चिन्ताद्या व्यभिचारिणः । 225 सा०द०
   विश्वनाथ साहित्य दर्पण

दशरूपककार आचार्य धनजय के अनुसार, "करूण रस का स्थायी भाव शोक है जो इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। इसके पश्चा त् नि श्वास, उच्छ्वास, रूदन, स्तम्भ तथा प्रलाप आदि (अनुभाव) ~~होते~~ हैं। ॰ निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता उन्माद तथा चिन्ता इत्यादि इसके व्यभिचारी भाव हैं[1]।

---

1. इष्टनाशा दनिष्टाप्तौ शोकात्मा करूणोऽनुतन

निश्वासोच्छ्वासरूदितस्तम्भप्रलपितादय ।81

स्वापापस्मार दैन्याधिमरणालस्य सम्भ्रमा. ।

विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिण: ।। 82

दशरूपक-धनजय

(चतुर्थ प्रकाश)

हास्य रस

अन्य रसों की भाँति "हास्य" रस का भी अपना प्रमुख स्थान है । आचार्य वाग्भट के अनुसार "हास्य"रस का स्थायी भाव है "हँसी" यह (हास्य रस) प्राय: चेष्टा, अङ्ग और वेषजनित विकार से उत्पन्न होता है ।[1]

आचार्य वाग्भट ने "हास्य" रस के तीन भेद स्वीकार किये हैं -- सज्जनों की हँसी ऐसी होती है, कि उनके कपोल और नेत्र तो प्रफुल्लित हो उठते हैं, किन्तु उनके ओंठ नहीं खुलने पाते (इसे मन्दस्मित कहते हैं) मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की हँसी में उनका मुँह खुल जाता है (जिससे दाँत दिखाई देने लगते हैं) किन्तु नीच जनों का हास्य शब्द युक्त होता है (जिसे अट्टहास स्वीकार किया है)[2]

आचार्य रूद्रट के अनुसार हास्य रस का स्थायीभाव है "हास" वह दूसरों के विकृत अंग, वेष, चेष्टा आदि से उत्पन्न होता है । वह प्राय. स्त्री नीच और बालक में होता है । इसमें उत्तम पात्रों के नेत्र और कपोल विकसित हो जाते हैं और कुछ दाँत दिखलाई पड़ते हैं, मध्यम पात्रों का मुख खुल जाता है और नीच

---

1. हासमूल. समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधै: ।

   चेष्टाङ्गवेषवैकृत्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भव: ।।

   वाग्भट 5/23

2. कपोलाक्षिकृतोल्लासमोष्ठे तिष्ठन्म उत्तम. ।

   मध्यमाना विदीर्णास्य. सोऽधराणां सशब्दक: ।।

   वाग्भट 5/24

पात्र तो अट्टहास करते हैं, जिससे उनके नेत्रों में जल भी आ जाता है ।
साहित्यकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, "हास्य" रस का स्थायी भाव "हास" है । इसका आविर्भाव आकार-विकृति, वाग्विकृति, वेषविकृति, चेष्टा विकृति किं वा अन्याय प्रकार की विकृतियों के वर्णन अथवा अभिनय से हुआ करता है । इसका वर्ण "श्वेत" है, इसके अधिष्ठातृ देव "प्रथमगण हैं, इसका आलम्बन वह व्यक्ति है जिसमें आकार वाणी और चेष्टा की विकृतियाँ दिखाई दिया करती हैं और जिसे देख कर लोग हँसा करते हैं ऐसे हास्यास्पद व्यक्ति की जो चेष्टाएँ हैं, वे ही यहाँ उद्दीपन का काम किया करती हैं । इसके अनुभाव वर्ग में नेत्र निमीलन, मुख विकास आदि की गणना है । इसके जो व्यभिचारी भाव हैं वे निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके 6 भेद स्पष्ट हैं — §1§ उत्तम प्रकृतिगत "स्मित" हास्य §2§ उत्तम प्रकृतिगत "हसित" हास्य §3§ मध्यम प्रकृतिगत "विहसित" हास्य §4§ मध्यम प्रकृतिगत "अवहसित" हास्य §5§ अधम प्रकृतिगत "अपहसित" हास्य §6§अधम प्रकृतिगत "अतिहसित" हास्य । यहाँ "स्मित" का अभिप्राय नेत्रों के ईषत् विकास किं वा अधर स्पन्दन §ओठों के कुछ-कुछ फड़क उठने§ का है । "हसित" ऐसे "हास" को स्वीकार किया है, जिसमें साथ ही साथ मधुर शब्द भी निकल पड़े । "अवहसित"

1· हास्यो हासप्रकृतिर्हासो विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्य. ।
भवति परस्थाभ्य. स च भूम्ना स्त्रीनीचबालगत. ।
नयनकपोलविकासी किंचित्कःयद्विजोऽप्यसौ महताम् ।
मध्यानां विवृतास्य: सशब्दवाष्पश्च नीचानाम् ।।

काव्यालङ्कार- रूद्रट 12 पचदशोऽध्याय

वह हास है , जिसमें कंधे और सिर कापने लगे । "अतिहसित" वह हास है, जिसमें हाथ पैर भी उठाये पटके जाते है ।[1]

दशरूपककार आचार्य धनजय के अनुसार अपने या दूसरों के विकार युक्त (बिगड़े हुए) आकार, वचन तथा वेष आदि (विभावों) से जो "हास स्थायी " भाव होता है, उसका परिपोष "हास्य रस " स्वीकार किया जाता है । इसी हास को "त्रि प्रकृति" (तीन प्रकार के आश्रयों में होने वाला) स्वीकार किया गया है ।[2]

---

1. विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
   हास्यो हासस्थायिभाव. श्वेत: प्रथमदैवत. ।। 214
   विकृता कारवाक्चेष्ट ----------------
   ---------------- भातम् ।। 215
   अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादय. ।
   -------------स्युर्व्यभिचारिण. ।। 216
   ज्येष्ठाना स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।
   नीचानामपहसित तथातिहसितं तदेष षड्भेद. ।। 217
   ईषद्विकासिनयन------- बुधै. ।। 218
   मधुरस्वर विहसित सांसशिर. कम्पमवहसितम् ।
   अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ।। 219
   विश्वनाथ-साहित्य दर्पण
2. विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
   हास: स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृति: स्मृत: ।।
   दशरूपक धनजय 75 चतुर्थ प्रकाश

अपने (आत्मस्थ) अथवा दूसरे (परस्थ) विकृत वेष तथा भाषा आदि विभावों का आलम्बन करके उत्पन्न होने वाला हास (नामक स्थायी भाव) है । उसका परिपोष ही हास्य रस है । इस (हास) के दो निमित्त होते हैं (आत्मस्थ और परस्थ) और वह उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के भेद से 6 प्रकार का हो जाता है । उत्तम आदि प्रकृति में होने वाले हास के भेद इस प्रकार है- (1) "स्मित" हास जिसमें (केवल) नेत्र विकसित होते हैं । (2) "हसित" हास जिसमें दाँत कुछ-कुछ दिखाई देते हैं (3) वह "विहसित" है जिसमें मधुर स्वर होता है, (4) वह "विहसित" जब सिर हिलने के साथ साथ होता है, तो "उपहसित" कहलाता है । (5) "अपहसित" जिसमें नेत्र अश्रु युक्त हो जाते हैं । (6) "अतिहसित" हास में अङ्गों को (इधर उधर) फेंका जाता है । इन (6) हास में क्रमशः (दो दो) उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के हुआ करते हैं ।[1]

नाट्यदर्पणकार आचार्यरामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार, "विकृत आचरण, बातचीत वेष विन्यास और (नाक बजाना, बगल बजाना आदि रूप) आश्चर्यजनक चेष्टाओं से हास्यरस उत्पन्न होता है, नाक सिकोड़ने, अश्रु और पेट पकड़ने आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । 12/114 विकृत अर्थात् प्रकृति (स्वभाव) देश काल

---

1. स्मितमिह विकसिनयनम्, किंचिल्लक्ष्यद्विज तु हसितं स्यात ।
   मधुर स्वर विहसितम्, सशिर. कम्पमिदमुपहसितम् । 76
   अपहसित सास्राक्षम् विक्षिप्ताङ्ग भवत्यतिहसितम् ।
   द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ।। 77

   चतुर्थ प्रकाश (दशरूपक-धनंजय)

आयु और अवस्था आदि के विपरीत (आचार हास्य जनक होता है।) अङ्गों का विकृतत्व दो प्रकार का हो सकता है, एक तो विरूप व्यापार (का किया जाना) अर्थात् (दूसरा) गंजत्व (लाङापन) या निर्बलता आदि रूप होता है। (कारिका में विकृताचार आदि के) उपलक्षण रूप होने से (इनसे भिन्न) अनुचित धृष्टता लालच आदि और नर्म भावों को दिखलाना दूसरों का मजाक बनाना और (विशेष प्रकार से) देखने आदि का भी ग्रहण होता है। विस्मय पद से बाल और नाक का बजाना, र्दन, कान"सिर या भौंहों का मटकाना और दूसरों की बोली का अनुकरण करना आदि रूप व्यापार का ग्रहण होता है। अपने में अथवा किसी दूसरे में स्थित इन (विकृताचार आदि के देखने) से हास स्थायी भाव वाले हास्य रस की उत्पत्ति होती है। (कारिका में स्वीकार किये गये नासास्पन्दन के "नासा" शब्द से गाल और ओठ आदि (के चलने) का भी ग्रहण होता है। अक्षु पद से "नेत्रों (के) सिकोड़ने और फैलाने आदि रूप नेत्र विकारों का भी ग्रहण है।

(कारिका के) "जठरग्रह" शब्द से (पेट पकड़ने के साथ ही) पार्श्वग्रह, हाथ-पीटना, मुखराग आदि का भी संग्रह होता है। "अवहित्था" (अर्थात् आकार गोपन) हर्ष, उत्साह, विस्मय आदि इस (हास्यरस) के व्यभिचारी भाव होते हैं। 12/114 ना०द०। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार हास्य रस के भेदोंका निरूपण इस प्रकार से स्वीकार किया है-- उत्तम (श्रेष्ठ प्रकृति के पात्रों)

---

1. विकृताचार जल्पांगाकल्पविस्मापनोद्भव.।
हास्योऽस्याभिनयो नासास्पन्दाश्रुजठरग्रहै।
रामचन्द्र-गुणचन्द्र-नाट्यदर्पण- 12/114

में "स्मित " और "हास" ﴾रूप दो हास्य भेद पाये जाते हैं﴿ मध्यम ﴾प्रकृति के पात्रों﴿ में ﴾हास्य रस के﴿ "विहास" और "उपहास" रूप दो भेद हैं। नीच ﴾प्रकृति के पात्रों﴿ में "अपहास" तथा "अतिहास" ﴾रूप दो हास्य भेद पाये जाते हैं﴿ और यह हास्य रस प्राय. अधम पात्रों में ही स्वीकार किये जाते हैं।[1]

13/115 ना०द० ﴾हास्य रस के छ॰ भेद जो कारिका में हैं वो इस प्रकार हैं﴿ समुचित अवसर पर जिसमें गाल लाल हो जाएँ इस प्रकार का मधुर स्वर से हँसना "विहसित" ﴾कहलाता﴿ है, कन्धे और सिर जिसमें हिलने लगे ﴾इस प्रकार के हास्य को﴿ "उपहसित" स्वीकार करते हैं।" विहसित "और 'उपहसित' रूप दोनों भेद मध्यम प्रकृति ﴾के पात्रों﴿ में होते हैं। जिसमें दाँत दिखलाई न दे इस प्रकार का हास्य "स्मित" ﴾मुस्कराना﴿ स्वीकार किया है। और जिसमें दाँत थोड़े थोड़े दिखाई देने लगे इस प्रकार का हास्य "हसित" स्वीकार किया ~~जाता~~ है। "स्मित और हसित " ये दोनों भेद उत्तम प्रकृति ﴾के पात्रों﴿ में होते हैं, बिना अवसर के जिसके आँखों में आँसू आ जाए कन्धे और सिर हिलने लगे इस प्रकार का हँसना "अपहसित" कहलाता है। हाथों से बालों को पकड़कर जोर जोर से उद्धतापूर्वक हँसना "अतिहास" स्वीकार किया ~~जाता~~ है। "अपहसित" और "अतिहसित" ये दोनों भेद अधम प्रकृति﴾के पात्रों﴿ में होते हैं।

---

1. विहासश्चोपहासश्च मध्ये ज्येष्ठे स्मित हस ।
   अपहासोऽतिहासश्च नीचे प्रायोऽधमे रस: ।।
   रामचन्द्रगुणचन्द्र-नाट्यदर्पण- 13/115

अद्भुत रस

आचार्य वाग्भट के अनुसार अद्भुत रस का स्थायी भाव "आश्चर्य" है । अद्भुत रस प्राणियों के हृदय में तब उत्पन्न होता है, जब वे किसी असम्भव वस्तु को देखते अथवा सुनते है ।[1]

अस्य रसस्य विभावादीन्दर्शयति --

तत्र नेत्रविकास. स्यात्पुलक. स्वेद एव च ।

निस्पन्दनेत्रता साधुसाधु-वाग्गद्गदा च गी. ।।

वाग्भट 5/26

उपर्युक्त श्लोक में (अद्भुत रस) नेत्रविकसित हो जाते हैं। शरीर पुलकित हो उठता है, पसीना आ जाता है, नेत्रों की स्फुरणा बन्द हो जाती है, (देखने वाले के) मुख से "साधु साधु" का शब्द निकल पडता है और वाणी गद्गद् हो जाती है ।

आचार्य विश्वनाथ ने "अद्भुत र। का स्थायी भाव "विस्मय" को स्वीकार किया है । इसका वर्ण "पीत" तथा देवता "गन्धर्व" है । इसका 'आलम्बन' आलौकिक वस्तु है । अलौकिक वस्तु का गुण कीर्तन इसका 'उद्दीपन' है । स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, गद्गद स्वर सम्भ्रम , नेत्रविकास आदि इसके 'अनुभाव' हैं । इसमें वितर्क, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव परिपोषण का काम करते हैं[2]। आचार्य रुद्रट ने अद्भुत रस का

स्थायी भाव "विस्मय" स्वीकार किया है । "विस्मय " भी असभाव्य स्वय अनुभूत अर्थ अथवा अनुभव करके अन्य के द्वारा कहे जाने से उत्पन्न होता है ।[1] आचार्य भरत के अनुसार "विस्मय" स्थायी भाव स्वरूप अद्भुत रस होता है। अद्भुत रस दिव्यजनों के दर्शन ﴾ईप्सित से भिन्न इष्ट वस्तु ﴿ की आप्ति, उपवन एव देवकुल में गमन, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल एव सम्भावना आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय नेत्रों को फाडे अपलक दृष्टि तथा रोमोद्गम, स्तम्भ दाक्षिका, प्रलय, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान के प्रबंध करने,हाहा करके हँसने, बाहु वदन चेल﴾वस्त्र﴿एव अँगुलियों के भ्रमण आदि'अनुभावों'के द्वारा स्वीकार किया है । इसके'व्यभिचारी'भाव आवेग संभ्रम, जडता एव चपलता आदि हैं । अतिशय से युक्त जो भी वाक्य शिल्प एव प्रशसित धर्म हैं ﴾धर्म रूपं पद में प्रशंसा में स्पन् प्रत्यय है, उन सबको अद्भुत रस में'विभाव'स्वीकार किया है ।[2] दशरूपककार

• गत पृष्ट का शेष
गुणाना तस्य महिमा भवेदुद्दीपन पुन. ।
स्तम्भ. स्वेदोऽथ रोमांचगद्गदस्वरसभ्रमा. ।। 243
तथा नेत्र विकाशाद्या अनुभावा प्रकीर्तिता. ।
वितर्कावेगसभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिण ।। 244

साहित्य दर्पण-विश्वनाथ

1• स्यादेव विस्मयात्मा रसोऽद्भुतो विस्मयोऽप्यसभाव्यत स्वयमनुभूतादर्थादनु-
भूयान्येन वा कथितात् ।।9/15- रूद्रट- काव्यालङ्कार

2• अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मक: । स च दिव्य -जनदर्शनेप्सित मनोरथा-
वाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमान मायेन्द्रजाल सम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते
तस्य नयन विस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाचाश्रुस्वेदहर्षसाधुवादान प्रबन्ध हाहाकार
बाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य. । भावाश्चास्य आवेग-
सम्भ्रमजडताचलतादय. अत्रानुवश्ये आर्ये भवत. .
यत्त्वतिशयार्थयुक्त वाक्य शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूप हि विज्ञेयम ।। -भरत नाट्यशास्त्र -75

आचार्य धनंजय के अनुसार, "अलौकिक पदार्थों के दर्शन ,श्रवण आदि से उत्पन्न होने वाला विस्मय स्थायी भाव" ही जिसका जीवन {आत्मा} है, वह "अद्भुत" रस है। साधुवाद {सराहना करना} अश्रु, कम्पन, प्रस्वेद तथा गद्गदहोना आदि उसके कार्य {अनुभाव} हैं, हर्ष आवेग और धृति इत्यादि 'व्यभिचारी' भाव हैं।[1]

भयानक रस

आचार्य वाग्भट के अनुसार "भयानक" रस का स्थायी भाव भय है। भय किसी भयङ्कर वस्तु को देखने से उत्पन्न होता है। भयानक रस का वर्णन प्रायः स्त्री, नीच,जन और बालकों के सम्बन्ध में ही किया जाता है।[2]

इदानीमस्य विभावादीन्दर्शयति ---

दिगालोकास्यशोषाङ्ग कम्पगद्गदसम्भ्रमाः।
श्वासवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ।। 5/28
वाग्भट

---

1. अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः
कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ।।79 चतुर्थ प्रकाश
दशरूपक -धनजय।

2. भयानको भवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः।
स च प्रायेण वनितानीचबालेषु शस्यते ।। 5/27
वाग्भट

भयानक रस के अनुभावों का वर्णन इस प्रकार है, चारों ओर देखना, मुँह का सूखना (हाथ-पाँव) आदि अङ्गों का काँपना, वाणी का स्खलन, सम्भ्रान्ति, भय, शरीर पीला पड़ जाना और मूर्च्छा ।

आचार्य भरत के अनुसार 'भय' स्थायी भाव वाला भयानक होता है । वह भयङ्कर शब्दों के सुनने भयङ्कर प्राणी के देखने गीदड़ और उल्लू के त्रास, उद्वेग, शून्यागार, अरण्यगमन, स्वजन के बध एव बन्ध के सुनने देखने आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उसका अभिनय हाथ पैर के काँपने, नयनों की चपलता, पुलक मुखवैवर्ण्य, स्वरभेद आदि से होता है । स्तम्भ, स्वेद एवं गद्गदिका आदि से करना चाहिए। इसके 'व्यभिचारी भाव' शंका, मोह, दीनता, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार एवं मरण आदि है ।[1] इस विषय में भयङ्कर शब्द को सुनने एवं भयङ्कर प्राणी को देखने

---

1. अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मक: । स च विकृतरा श्रवसत्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजन बधबन्धदर्शन श्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्यप्रवेपितकरचरण नयन चपल पुलक मुख वैवर्ण्यस्वर भेद स्तम्भस्वेदगद्‌गदिकादिभि-रनुभावैरभिनय. प्रयोक्तव्य: ।

भरत - नाट्यशास्त्र षष्ठोऽध्याय

संग्राम, अरण्य गमन शून्यगृह गमन से 'भयानक' (रस) को स्वीकार किया गया है ।[1] आचार्य रुद्रट के अनुसार भय स्थायी भाव से भयानक रस उत्पन्न होता है । भय अत्यन्त भीषण शब्द आदि (विषयों) से उत्पन्न होता है । तथा भयानक रस में नीच स्त्री, बालक आदि नायक होते हैं ।[2] दिशाओं में देखना, मुख सूखना, कान्तिहीन होना और मोह आदि भयानक के 'अनुभाव' हैं ।[3] आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार पताका, कीर्ति, भयोत्पादक (पिशाच उलूकादि) युद्ध (आजि.) निर्जन स्थान, चोर डाकू आदि तथा (गुरु आदि के) दोषों से "भयानक" रस उत्पन्न होता है । स्तम्भ, रोमांच तथा कम्पन के द्वारा उसका अभिनय स्वीकार किया है ।[4] स्वर तथा आकार की विकृति द्वारा भयोत्पादक पिशाच उलूकादि रौद्र (पद से गृहीत) होते हैं । यह (रौद्र पद) बध तथा बन्धन का भी उपलक्षण (ग्राहक) है, निर्जर घर या

---

1. भावाश्चास्य शंका मोहदैन्यावेग चापल जड़ता त्रासापस्मारमरणादय: ।
   अत्रार्या विकृतरवसत्व दर्शनग्रामारण्यशून्यगृह गमनात्
   गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेय: ।। (भरत) 69 ना०शा०
   षष्ठोअध्याय
2. संभवति भयप्रकृतिर्भयानको भयमतीव घोरेभ्य. ।
   शब्दादिभ्यस्तस्य च नीच स्त्री बालनायकता ।। 7/15 रुद्रट -काव्यालं०टर
3. दिक्प्रेक्षण मुखशोषणवैवर्ण्यस्वेदगद्गदत्रासा: ।
   करचरणकम्पसंभ्रममोहाश्च भयानके सन्ति ।।8/15 – रुद्रट काव्यालङ्कार
4. पताका-कीर्ति रौद्रआजि-शून्य-तस्कर दोषज ।
   भयानकोऽभिनेतव्य: स्तम्भ रोमाच कम्पनै: ।। 17/119
   तृतीयविवेक नाट्यदर्पण-रामचन्द्र-गुणचन्द्र

अरव्यादि "शून्य" पद से लिया गया है। दोष अर्थात् गुरु अथवा राजा आदि का अपराध। इन विभावों के देखने या सुनने से भय रूप स्थायी भाव वाले भयानक रस की उत्पत्ति होती है। अंगों के हिलने डुलने का अभाव "स्तम्भ" कहलाता है। हाथ पैर आदि का हिलना "कम्पन" कहलाता है। इसके द्वारा शरीर मुख या दृष्टि का विकार गले का सूख जाना विवर्णता और मूर्च्छा आदि अनुभावों का (भी) ग्रहण होता तथा शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, त्रास, अपस्मार, मरण, स्तम्भ, स्वेद रोमाच, कम्पन, स्वर भेद, वैवर्ण्य आदि इसके 'व्यभिचारी' भाव हैं।[1] साहित्यदर्पणकार के अनुसार "भयानक" रस का स्थायी भाव "भय" है। इसका वर्ण "कृष्ण" इसके देवता "काल" (कृतान्त) हैं, काव्यकोविदों ने स्त्री किंवा नीच प्रकृति के लोगों को इसका आश्रय स्वीकार किया है। इसका 'आलम्बन' भयोत्पादक पदार्थ है। और ऐसे भयोत्पादक पदार्थों की भीषण चेष्टाएँ इसके उद्दीपन 'विभाव' का काम करती है। विवर्णता, गद्गदभाषण, प्रलय, स्वेद, रोमांच, कम्प, इतस्ततः अवलोकनआदि इसके 'अनुभाव' हैं। इसके 'व्यभिचारी' भावों में जुगुप्सा, आवेग, संमोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, सम्भ्रम, मरण आदि हैं।[2] आचार्य दशरूपककार

---

1. रौद्रा. स्वराकारवैकृत्येन भीषण· पिशाचोलूकादय: ------ । व्यभिचारिणश्चास्य शङ्का-मोह दैन्य, आवेग, चपलता त्रास अपस्मार मरण स्तम्भ स्वेद रोमाच वेपथु स्वर भेद वैवर्ण्यादय इति ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र-नाट्यदर्पण-17/119

2. भयानको भयस्थायी भावों भूताधिदैवत: ।
स्त्री नीचप्रकृति: कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदै: ।। 235
यस्यादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बन मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुन: ।। 236

क्रमशः

धनजय के अनुसार, विकृत ﴾डरावना﴿ शब्द अथवा सत्व ﴾पराक्रम, प्राणी, पिशाच आदि﴿ अादि ﴾विभावों﴿ सेउत्पन्न होने वाला भय नानक स्थायी भाव ही ﴾परिपुष्ट होकर﴿'भयानक'रस होता है । सारे शरीर का काँपना, पसीना छूटना, मुँह सूख जाना, रग फीका पड जाना ﴾वैवर्ण्य﴿ आदि इसके चिन्ह ﴾कार्य,भाव﴿ होते हैं । दीनता, सम्भ्रम सम्मोह, त्रास आदि इसके चिन्ह'व्यभिचारी'भाव है ।[1]

रौद्र रस

आचार्य वाग्भट के अनुसार "रौद्र" रस का स्थायी भाव "क्रोध" है, जो शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर उत्पन्न होता है । इस ﴾रौद्र रस﴿ का नायक भीषण स्वभाव वाला, उग्र और क्रोधी स्वीकार किया है ।[2] "रौद्र" रस के अनुभाव हैं-- अपने कन्धों को पीटना आत्मश्लाघा वस्त्रादि को फेंकना, भृकुटि का टेढ़ा हो जाना, शत्रुओं की निन्दा और मर्यादा का उल्लंघन करना ।[3] भरत के अनुसार रौद्र का स्थायी भाव "क्रोध" है, क्रोध तभी स्वीकार किया जाता है, कि जब कोई

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गद स्वरभाषणम् ।
प्रलय स्वेदरोमांच कम्पादिग्प्रेक्षणादय: ।। 237
जुगुप्सा वेग संमोहसन्त्रासग्लानिदीनता. ।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्ति मृत्याद्या व्यभिचारिण: ।। 238
विश्वनाथ-साहित्य दर्पण

1• विकृतस्वरसत्वादेर्भयभावो भयानक: ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्य लक्षण: ।।
दैन्यसम्भ्रमसमोहत्रासादिस्तत्सहोदर: । 80
दशरूपक-धनजय

2• क्रोधात्मको भवेद्रौद्र. क्रोधश्चारिपराभवात् ।
भीष्मवृत्तिर्भवेदुग्र. सामर्शस्तत्र नायक. ।। 5/29 वाग्भट

3• स्वासाघातस्वशंसास्त्रोत्क्षेपभ्रुकुटयस्तथा ।
अत्रारातिजनाक्षेपोद्देलन चोपवर्ण्यते ।। 5/30 वाग्भट

अन्याय करता है । अन्याय करना प्रधान रूप से क्रोध का विषय है । मिथ्या भाषण, उपघात, वाक्यापारूष्य, गाली-गलौज करना, अभिद्रोह मारने की इच्छा करना एवं मात्सर्य आदि 'विभावों' से उत्पन्न होता है । इसके ताड़न-पीटना । पाटना-चीर देना पीडन-मर्दन । छेदन-काटना । भेदन-विदारण करना शस्त्रों का गिराना सप्रहार शास्त्र से मार देना, रुधिर का खींच लेना एवं पी लेना आदि कर्म है । लाल नेत्रों, भौंहों के टेढ़ी करने, दाँतों से ओष्ठ को दबाने, कपोल के थपथपाने एवं करतल के निष्पेष, स्वेद, वेपथु रोमांच एवं गद्गादिका आदि 'अनुभावों' से इसका अभिनय स्वीकार किया तथा इसके 'व्यभिचारी' भाव सम्मोह (बेवकूफी) उत्साह, आवेग आमर्ष, चपलता, उग्रता एवं गर्व आदि है । साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' है । इसका वर्ण 'रक्त' है, और इसके देवता 'रुद्र' हैं । इसमें आलम्बन रूप से शत्रु का वर्णन किया ~~जाता करता~~ है, और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन विभाव का काम करती है । इसकी विशेष उद्दीप्ति मुष्टि प्रहार, भूपातन, भयंकर मारमार, शरीर विदारण, संग्राम और संभ्रम आदि स्वीकार की है । इसके अनुभाव है, भ्रूभंग, ओष्ठ विदर्शन, बहुस्फोटन (ताल ठोंकना) तर्जन, स्वकृत कम्प, मद, आक्षेप, क्रूर दृष्टि आदि इसके जो व्यभिचारी

---

1. अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषय. तादृशि च जनेसर्वेऽपि मनोरथैरपि रूधिर पानमपि नाभाद्रियन्ते --------पघात वाक्यापारूष्याभिद्रोह मात्सर्यादिभिर्वि भावैरूत्पद्यते । तस्य च ताडन पाटन पीड़नच्छेदन भेदन प्रहरणाहरण शस्त्र सम्पात सम्प्रहार रूधिराकर्षणाद्यानि कर्माणि पुनश्च रक्त नयन भृकुटी करणदन्तोष्ठपीडनगण्ड स्फुरणहस्ताग्र निष्पेष स्वेदवेपथु रोमांचाद्‌दिकादिभिरनुभावैरभिनय. प्रयोक्तव्य: भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपल तोग्र्य गर्वादय.

षष्ठोऽध्याय-भरत-नाट्यशास्त्र

भाव है उनमें मोह, अमर्ष आदि का स्थान है ।[1] आचार्य रूद्रट के अनुसार "रौद्र रस" का स्थायी भाव'क्रोध' है । वह शत्रु द्वारा किये गये पराभव से उत्पन्न होता है । इसमें नायक अत्यन्त भीषण चेष्टाओं वाला अमर्ष से युक्त और अत्यन्त प्रचण्ड होता है ।[2] इसमें अपने कन्धे को मलना, विषम भृकुटियों से देखना, शास्त्रों को उठाना, अपने पराक्रम की प्रशंसा, शत्रुओ का आक्षेप और दलन आदि इसके'अनुभाव' होते है ।[3] आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार, प्रहार, असत्य, मात्सर्य, द्रोह, आधर्षण तथा अपनीति से'रौद्र' रस होता है और मारने, दाँत तथा ओठों के चबाने द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।[4] दूसरे को काट देने वाला या न काटने वाला शस्त्र का व्यापार "प्रहार" कहलाता है । इससे चर और भृत्य आदि के उपमर्दन का ग्रहण होता है । "असत्य" पद से बध-बन्धआदि के कहने वाले कठोर वाक्यों आदि

1· रौद्र: क्रोधस्थायिभावो रक्तो रूद्राधिदेवत: ।
आलम्बनमरिस्तस्य तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ।। 227
मुष्टि प्रहार पातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेद् प्रौढा ।। 228
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्देशबाहुस्फोटनतर्जना: ।
आत्मावदानकथमायुधोत्क्षेपणानि च ।। 229
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादय. ।
उग्रतावेग रोमाचस्वेदवेपथवो मद: ।। 230 साहित्यदर्पण-विश्वनाथ
मोहामर्षादयस्तत्र भावा: स्युर्व्यभिचारिण. ।

2· रौद्र: क्रोध प्रकृति: क्रोधोऽरिकृतात्पराभावाद्भवति ।
तत्र सुदारूणचेष्ट: सामर्षो नायकोऽत्युग्र: ।। 13 रूद्रट काव्यालकार

3· तत्र निजांसस्फालन विषमभ्रुकुटीक्षणायुधोत्क्षेपा: ।
सन्ति स्वशक्तिशंसाप्रतिपक्षाक्षेपदलनानि ।। 14/15 रूद्रट-काव्यालंकार

4· प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोहाधर्षपिनीतिज: ।
रौद्र: स चाभिनेतव्यो घातदन्तौष्ठ पीडनै.

का संग्रह होता है । गुणों में असूया {दोषादिष्करण} "मात्सर्य" कहलाता है । मारने की इच्छा "द्रोह" {कहलाती} है स्त्रियाँ आदि का अपमान विद्या कर्म देश जाति आदि की निन्दा और राज्य या सर्वस्व का अपहरण आदि "आधर्ष" स्वीकार किया है, अन्याय का नाम "अपनीति" है, इसके द्वारा औद्धत्य को भी सूचित किया है । इन विभावों से क्रोध रूप स्थायि भाव वाला 'रौद्र' रस उत्पन्न होता है । "घात" पद से छेदन-भेदन और रक्त बहाने आदि 'अनुभावों' का ग्रहण होता है तथा दाँतो के पीसने और ओठ चबाने से गालो और ओष्ठों के फड़कने और हाथ के अग्र भाग के मलने आदि 'अनुभाव' समुदाय का ग्रहण होता है । इस {रौद्र रस} के 'व्यभिचारी' भाव मोह, उत्साह आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, वेपथु और रोमांचादि होते हैं । उत्साहादि {वीर रस में} 'स्थायी' भाव होने पर भी {रौद्रादि} दूसरे रसों में 'व्यभिचारी' हो जाते है । स्तम्भ और स्वेदादि रस के कार्य रूप होने से {यहाँ} व्यभिचारी भाव नहीं होते अपितु 'स्थायी' भाव स्वीकार किये जाते है। दशरूपककार आचार्य धनजय के अनुसार, मात्सर्य तथा शत्रु द्वारा किये गये अपकार आदि {विभावों} से होने वाला जो क्रोध है, उसकी पुष्टि "रौद्र रस" से होती है । उसके पश्चात {मानस अनुभाव} क्षोभ उत्पन्न होता है । ओठ चबाना, कॉपना, भौंहे टेढ़ी करना, पसीना मुख लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डींग मारना {विकत्थन आत्मश्लाघा} {हाथ से} अपने कंधे पर तथा {पैर से} भूमि पर चोट करना, प्रतिज्ञा करना इत्यादि {आङ्गिक} वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों} से युक्त होता है । इसमें अमर्ष, मद,

स्मृति, चपलता, असूया उग्रता तथा वेग आदि अनुभाव स्वीकार किया है ।[1]

वीभत्स रस

आचार्य वाग्भट के अनुसार "वीभत्स" का 'स्थायी' भाव 'जुगुप्सा' है । वह अग्राह्य (अथवा ग्रहण न करने वाली वस्तु) के देखने सुनने से उत्पन्न होता है । थूकना, घृणा करना, आदि इसके 'अनुभाव' है । किन्तु इन थूकना आदि-------- उत्तम जनों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता है ।[2] आचार्य भरत के अनुसार "वीभत्स" रस 'जुगुप्सा' स्थायी भाव स्वरूप है । वह अहृदय, अप्रिय, अचोद्य (अपकथनीय) और अवाञ्छित वस्तु के सुनने देखने एवं कीर्तन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वीभत्स रस का अभिनय सर्वांग के संहार, सिकुड़न, मुख एव नासिका के विकूणन, अगों की शीर्णता, थूकना एव उद्वेजन आदि 'अनुभावों' से है । इसके 'व्यभिचारी' भाव अपस्मार, आवेग, मोह, व्याधि एवं मरण आदि हैं ।

अनभिमत पदार्थों के देखने, दुष्ट गन्ध, दुष्ट रस, दुष्ट स्पर्श, दुष्टशब्द एवं बहुत प्रकार के उद्वेजक पदार्थों से 'वीभत्स' रस उत्पन्न होता है । मुख एव नेत्रों के विकूणन टेढे करते हुए सिकोड़ने, नासिका के ढक लेने, शिर को झुकाने और ऊष्ठ,

---

1. क्रोधोमत्सरवैरिवैकृतमयै' पोषो5स्य रौद्रो5नुजः क्षोभ. स्वाधरदशकम्पभ्रुकुटि-
   स्वेदास्यरागैर्युतः शास्त्रोल्लासविकत्थनास्थरणीधात प्रतिज्ञाग्रहै है--
   रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ।

   74 चतुर्थ प्रकाश दशरूपक धनंजय

2. विभत्स' स्याज्जुगुप्सातः सो5हृद्यश्रवणेक्षणात् ।
   निष्ठीवनास्यभङ्ग•ादि स्यादत्र महतां न च ।। '5/31 वाग्भट

खाकड़ ऊँचे नीचे पैरो के गिरने से बीभत्स रस का सम्यक् अभिनय करना चाहिए ।[1]
साहित्य दर्पण कार आचार्यविश्वनाथ ने वीभत्स रस का स्थायी भाव "जुगुप्सा"
स्वीकार किया है । इसका वर्ण "नील" तथा देवता "महाकाल" है । इसका
'आलम्बन' दुर्गन्ध मय मास रक्त भेद {चर्बी} आदि है । इन्हीं दुर्गन्धमय मासादि
के पकड़ने आदि को इसकाउद्दीपन विभाव माना है, निष्ठीवन {थूकना}
आलस्यवलन {मुँह फेरना} नेत्र संकोचन {आँखे मीजना} आदि इसके 'अनुभाव' हैं, और
मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके 'व्यभिचारी' भाव है ।[2]

आचार्य रूद्रट के अनुसार "वीभत्स रस" का स्थायी भाव "जुगुप्सा" है।
वह इन्द्रियों के {रूप रस आदि} अत्यन्त अशुद्ध विषयों के देखने, सुनने और वर्णन
करने से उत्पन्न होती है । इस {वीभत्स रस} में हृत्कम्पन, कुल्ला करना, मुख
सिकोड़ना, शरीर मरोड़ना और उद्वेग आदि {अनुभाव} होते हैं । उत्तम पात्रों

---

1. अथ वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक: । स वाहृद्यप्रियाचोष्यानिष्ट
श्रवण दर्शन कीर्तनादिभिर्वि भावैरुत्पद्यते तस्य सर्वाङ्ग·सहार मुख विकूणानोल्लेखनै-
निष्ठीवनोद्वेजनादि-
भिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य. । भावाश्चास्यापस्मारोद्वागावेग मोह व्याधि-
मरणादय: । अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्श शब्ददोषैश्च । उद्वेजनैश्च अदुभिवर्भि
त्सरस: समुद्भवति ।।73
मुखेन विकूणनया नासा प्रच्छादनावनमिता स्यै 3 ।
अव्यक्तपादपदनैबोर्भित्स. सम्यगभिनेय: ।। 74
भरत - ना० शा० षष्ठोऽध्याय

2. जुगुप्सास्थायिभावस्तु बोभत्स: कथ्यते रस: ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृत: ।। 239
दुर्गन्धमांस रुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम् ।
तत्रैव कृमिपात द्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ।। 240

में उपर्युक्त अनुभाव नहीं होते, क्योंकि वे स्वभाव से ही गंभीर होते है ।[1]
दशरूपककार आचार्य धनंजय के अनुसार "वीभत्स" रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है । §यह तीन प्रकार का होता है§ §क§ कीड़े, दुर्गन्ध, वमन आदि §विभावों§से होने वाला उद्वेगी "वीभत्स" होता है । §ख§ रूधिर अँतड़ियाँ हड्डी §कीकस§ मज्जा §वसा§ मांस आदि विभावों से होने वाला क्षोभण वीभत्स तथा §ग§ जघन, स्तन आदि के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणा शुद्ध (वीभत्स) होता है । यह नाक सिकोड़ना, मुँह फेरना §विकूणन§ आदि 'अनुभावों' से युक्त होता है तथा इसमें आवेग व्याधि §आर्ति§ शङ्का आदि §व्यभिचारी भाव§ हुआ करते है ।[2]

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार, "दूषित रूप आदि तथा शत्रु की प्रशंसा आदि से उत्पन्न बीभत्स रस होता है । थूकने, नाक, भौं सिकोड़ने और निन्दा के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।[3] मलिनता, सडांध, दुर्गन्ध अथवा कर्कशता आदि के कारण अरूचिकर §अर्थ "जुगुप्सनीय" अर्थ कहलाते हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि रूप विषय "पर" अर्थात् विपक्ष §शत्रु§ की प्रशंसा "परश्लाघा" पद से

----- निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादय: ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्तुर्व्यभिचारिण. ।। 241
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय: ।। — विश्वनाथ - साहित्यदर्पण

1. भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्स. सा तु दर्शनाच्छ्रवणात् ।
संकीर्तनाच्चयेन्द्रियविषयाणामभ्यहृद्यानाम् ।। 51
हल्लेखननिष्ठीवन मुखकूणनसर्वगात्रसंहारा. ।
उद्वेग: सन्त्यस्मिन्नाभीर्यान्नोत्तमाना तु ।। §6§ पंचदशोऽध्याय - रूद्रट - काव्यालङ्कार

2. बीभत्स. कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभूरुद्वेगी रूधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभि: क्षोभण: वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो। नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्ति- शङ्कादय: ।। 73 दशरूपक धनंजय चतुर्थ प्रकाश

3. जुगुप्सनीयरूपादि- परश्लाघासमुद्भव: ।बीभत्सोऽभिनयश्चास्य निष्ठेवोद्वेग-निन्दनै.

से अभिप्रेत है । इन विभावों को देखने अथवा सुनने से जुगुप्सा रूप स्थायिभाव वाला 'वीभत्स' रस उत्पन्न होता है । शत्रु की प्रशंसा में विशेष रूप से दोषों को देखकर उससे घृणा करता है । अङ्गों के सिकोड़ने, मुँह के बिचकाने, नाक-कान आदि के बन्द करने, जी मिचलाने आदि 'अनुभावों' का ग्रहण होता है । व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार मरण आदि इसके 'व्यभिचारी' भाव है ।[1]

शान्त रस

शान्त रस "नवम" रस के रूप में, अन्य रसों में अपना प्रमुख स्थान रखता है । शान्त रस की सत्ता स्वीकार करने तथा इसके स्थायी भाव और परिभाषा के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है । कुछ आचार्यों ने तो केवल आठ ही रसों को स्वीकार किया है तथा कुछ (आचार्यों) ने नवम रस के रूप में शान्त रस की सत्ता को स्वीकार किया है । महाकवि कालिदास,[2] दण्डी[3] आदि ने नाटक मे आठ ही रसों का उल्लेख ~~स्वीकार~~ किया है "शान्त रस" का प्रतिपादन नहीं किया इसके विपरीत वाग्भट, उद्भट, आनन्दवर्धन, रूद्रट मम्मट, रामचन्द्र

---

1. जुगुप्सनीया मलिन्य-कुत्सितत्व दुर्गन्धितत्व कर्कशत्वादिभिरमनोज्ञाः रूपादयो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द लक्षणा विषया.--------व्यभिचारिणश्चास्य व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार, मरणादय. इति । 18/120 (रामचन्द्र गुणचन्द्र) नाट्यदर्पण
2. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त. ।
   ललिताभिनयं तमद्य भर्ता, मरुता द्रष्टुमना. सलोकपालः ।। 2/18
   विक्रमोर्वशीयम्-कालिदास
3. वाक्यस्याग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रस. ।
   इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।। 2/294 काव्यादर्श-दण्डी

गुणचन्द्र, और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने स्पष्ट रूप से शान्त रस की परिभाषा और स्थायी भावों का विवेचन किया है । भरत ने नाट्य शास्त्र के छठें अध्याय में भी शान्त रस का विवेचन किया है ।

शान्त रस के प्रबल विरोधी धनजय और धनिक है । "दशरूपक" और उसकी टीका में बड़ी प्रौढता के साथ उसका खण्डन किया है । इनके विचार से नाट्य में आठ ही रस होते है । शान्त रस को नाटक में स्थान न दिया जाने का कारण उसका अभिनेयत्व है । शान्त रस 'निवृत्ति' प्रधान है और अभिनय में 'प्रवृत्ति' का प्रधान होना आवश्यक है ।

काव्यशास्त्रियों ने शान्त रस की परिभाषा और स्थायी भावों का निर्धारण आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों की सिद्धी के लिए साख्य योग तथा न्यायादि दर्शनों की पर्याप्त सहायता स्वीकार किया है । आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र में उपलब्ध[1] शान्त रस की परिभाषा इसके स्थायी भाव तथा अनुभावादि योग दर्शन से प्रभावित होते है, इसमें प्रयुक्त यम[2], नियम[3], तथा धारण[4] योग सूत्रों में

---

1. अथ शान्तों नाम शमस्थायी भावात्मको मोक्षप्रवर्तक: । सतु तत्वज्ञान वैराग्या-शम शुद्धयादि भिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपसना-सर्वभूतदयालिंगग्रहणादिभिरनु भावैरभिनय: प्रयोक्तव्य. । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद स्मृतिधृति सर्वाश्रमशौवस्तम्भरोमांचादय ।
भरत- ना0शा0 गायकवाड़ भा0 । पृ0 332
2. अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमा: । यो0 सू0 2/30
3. शौचसन्तोषतप. स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानीनि नियमा. । यो0 सू0 2/32
4. धारणासु च योग्यता मनस. । यो0 सू0 2/53

उपलब्ध पारिभाषिक शब्द की ओर संकेत करते हैं। लिंग ग्रहण से यहाँ अभिप्राय योग के अष्टांगों से स्वीकार किया है।[1] आचार्य भरत मुनि ने शान्त रस को प्रकृति रूप में स्वीकार करते हुए इत्यादि भावों को विकार माना है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते है और फिर उसी में लीन हो जाते हैं।[2] आचार्य भरत के पश्चात आचार्य वाग्भट[3], उद्भट[4], तथा रूद्रट[5] ने शान्त रस का निरूपण किया है। नमिसाधु का कथन है कि, शान्त रस को अस्वीकृत करना अनुचित प्रतीत होता है।[6] आचार्य आनन्दवर्धन ने शान्त रस को अङ्गी रस की संज्ञा प्रदान की है।[7]

---

1. यमनियमासन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयो।
   यो0 सू0 2/21

2. नाट्यशास्त्र भा0। पृ0 334-35
   स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
   पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।। वही पृ0 335

3. श्रृंगारवीर करूणहास्याद्भुत भयानका:
   रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधै. 3/5 वाग्भट

4. श्रृंगार हास्य करूणरौद्र वीरभयानका:।
   वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा स्मृता.।
   काव्यालंकार सारसंग्रह 4/4 उद्भट

5. सम्यग्ज्ञानप्रकृति: शान्तो विगतेच्छ नायको भवति।
   सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्।।
   15
   जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये
   सुखदु:खयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते।। 16 रूद्रट-काव्यालंकार

6. कैश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्। तदयुक्तम् भावादिकारणनामत्रापि विद्यमानत्वात्।
   रूद्रट के काव्यालंकार की टीका नामिसाधु

7. ततश्च शान्तो रसो रसान्तरै मोक्षलक्षण: पुरूषा: पुरूषार्थन्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति। ध्वन्यालोक 4/5 की वृत्ति पृ0 562 आनन्दव

शारदातनय के अनुसार बह्य पदार्थों का स्पर्श न होने पर शान्त रस स्वीकार किया है ।[1] अभिनवगुप्त के गुरु भट्टटौट शान्त रस को मोक्षरूप वाला होने से सभी रसों में प्रधानतम् स्वीकार करते हैं । इनके अनुसार वैराग्य तथा संसार से पलायन आदि शान्त रस के विभाव हैं ।[2] अभिनवगुप्त द्वारा व्यभिचारी भाव रूप में प्रस्तुत निर्वेद एक लौकिकनिर्वेद है, जबकि स्थायी भाव रूप निर्वेद एक उच्च दार्शनिक निर्वेद है ।[3] अभिनवगुप्त का विचार है कि शांत रस स्वीकार करना ﴾उत्पलाचार्य प्रभृति﴿ शास्त्रकारों को भी अभिमत था, जिन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन में नव रसों का सिद्धान्त स्वीकार किया है ।[4] "शम" शब्द तथा इसकी व्युत्पत्ति योगवसिष्ठ के प्राय: सभी पृष्ठों पर मिलती है ।[5] दशरूपक में शांत रस के उपाय चित्त की जिन चार वृत्तियों मुदिता, मैत्री, करूणा तथा उपेक्षा को स्वीकार किया है, वह साक्षात्

---

1. मनाग स्पृष्टवाह्यार्थाव् शान्तो रस इतीरित.
   देशकालवयोद्रव्यगुण प्रकृतिकर्मणाम् ।।
   भाव प्रकाश पृ0 4 - शारदातनय
2. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरूषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतम. ।
3. Abhinava's point seems to be that Nirveda as Vyabhicharibhava is the ordinary kind of worldy Nirveda while Nirveda as a Sthayibhava is a higher, philosophical Nirveda.- Santa Rasa & Abhinavagupta's Philosophy of Aestheics foot Note No.3,P 126
4. "अष्टानामिह देवाना श्रृंगारादीन् प्रदर्शयेत् ।
   मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत इति ।। पृ0 36 अभिनव भा0 षष्ठोऽध्याय
5. The word sama and its derivations are to be found on virtually every page of P. 30
   Santa Rasa and Abhinavagupta's Philosophy of Aesthetics.

योगदर्शन का विषय है। शान्त रस की सत्ता स्वीकार करने के पश्चात्, आचार्यों ने शान्त रस का 'स्थायी' भाव भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है। आचार्य वाग्भट ने "शम" को शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है।[1] मम्मट ने "निर्वेद" को शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है, "निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस:" (का० प्र० 40 का 35) आचार्य भरत ने व्यभिचारी भावों की गणना स्वीकार करते समय "निर्वेद" को सबसे पहला व्यभिचारी भाव स्वीकार किया है। फिर उसे शान्त रस का स्थायी भाव कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? इस शंका का समाधान मम्मट ने इस प्रकार से किया है, कि "निर्वेद" स्वरूपत. "अमङ्गल" रूप है अत: उसे 'व्यभिचारी' भावों की गणना में सबसे पहले नहीं स्वीकार करना चाहिए। किन्तु भरत मुनि ने उस अमांगलिक को जो सर्व प्रथम ग्रहण किया है, वह इसलिए कि "निर्वेद" एक ऐसा भाव है जो 'व्यभिचारी' भावों में परिगणित होने पर भी 'शान्त' रस का 'स्थायीभाव' है। अत: उस स्थायी भाव की सूचना के लिए ही भरत ने "निर्वेद" का ग्रहण सबसे पहले किया। आचार्य मम्मट ने अपने इस अभिप्राय को निम्न प्रकार से स्वीकार किया है। "निर्वेदस्यामंगलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽपि उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थम्" (का० प्र० ज्ञानमण्डल पृ० 138) संगीत रत्नाकर भी इसी युक्तिक्रम से निर्वेद को शान्त रस का स्थयी भाव सिद्ध करते हुए उल्लेख किया है,[2]। नाट्य दर्पणकार के अनुसार

---

1. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहभयं तथा, जुगुप्सा विस्मयशमा: स्थायिभावा: प्रकीर्तिता.। 5/4 वाग्भट
2. उद्दिश्य स्थायिन:, प्राप्ते समये व्यभिचारिणान्।
   अमङ्गलमपि ब्रूते पूर्वं निर्वेद मेव यत्॥
   मुनिर्मेनेऽस्य तन्नूनं स्थायिता व्यभिचारिते।
   पूर्वापरान्वयो हास्य मध्यस्थ स्यानुषंगत:। (संगीतरत्नाकर 1315-1316)

'निर्वेद' केवल 'व्यभिचारी' भाव है स्थायी नहीं[1], अत: "शम" को स्थायी भाव स्वीकार किया है, नि. स्पृहत्व शम. (पृ0 330) काम, क्रोध, लोभ मान मम्रया आदि से रहित विषय, संलग्नता से वियुक्त, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप "शम" नामक स्थायी भाव 'शान्त' रस के रूप में अभिव्यक्त होता है।[2] आचार्य रूद्रटनेशान्त रस का 'स्थायी' भाव "सम्यक् ज्ञान" स्वीकार किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त अभि रस का स्थायी भाव "निर्वेद" को नहीं स्वीकार किया, अभिनवगुप्त ने इसका विस्तार पूर्वक उल्लेख तथा खण्डन 'अभिनवभारती' में (पृ0 613-617) तक इसका विवेचन किया है। अभिनवगुप्त ने (पृ0 113 पर) या-वासौ तथा भूता चित्तवृत्ति: सैवात्र स्थायिभाव." यह सामान्य रूप से 'शान्त' रस के 'स्थायी' भाव का निर्देश किया है। जो 'मोक्ष' रूप पुरूषार्थ की साधक 'चित्तवृत्ति' है, वही शान्त रस का स्थायी भाव है। अत: 'मोक्ष' का साधक "शम" होने से शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है। "तत्वज्ञान" से उत्पन्न निर्वेद" ही 'शान्त' रस का स्थायी भाव है। यह मत सबसे अधिक मान्य है, किन्तु ग्रंथकार इससे सहमत नहीं है, इसलिए सर्व प्रथम इस मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन भी स्वीकार किया है। 'तत्व ज्ञान' से 'निर्वेद' की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है, इस प्रकार "शम" का ही दूसरा नाम

---

1. अयं च (निर्वेद:) रसेष्वनियतत्वात् कदाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी न स्थायी।" 3-28 नाट्यदर्पण - रामचन्द्र गुणचन्द्र

2. काम, क्रोध-लोभ, मान, माया धनुपरक्त परोन्मुखता विवर्जिताऽक्लिष्टचेतो रूप शमस्थायी शान्तो रसो भवति पृ0 317 (नाट्य दर्पण) रामचन्द्र - गुणचन्द्र

निर्वेद है, अत' 'निर्वेद' के बजाय "शम" को ही शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार करना चाहिए । इस प्रकार 'शम' और 'शान्त' दोनों ही पर्यायवाची शब्द है । यह दोष स्वीकार करने पर उसका परिहार 'हास्य' और 'हास' शब्दों की (पर्यायता) से ही हो जाता है । (अर्थात् जैसे हास को अपने समानार्थक हास्य रस का स्थायी भाव स्वीकार करने पर कोई आपत्ति नहीं, उसी प्रकार शम को भी उसके समानार्थक शब्द स्वीकार करने पर भी है । सिद्ध साधनता पिष्ट-पेषण नामक दोष का निराकरण स्थायी भाव के लौकिक तथा रस के अलौकिक होने से स्वीकार किया जाता है । (इन दोनों में से एक अर्थात् स्थायी भाव के असाधारण तथा दूसरे अर्थात् रस के साधारण होने से शम और शान्त में वैलक्षण्य (अर्थात् भेद) भी है । इसलिए "निर्वेद" शान्त रस का स्थायी भाव नहीं अपितु "शम" शान्त रस का स्थायी भाव है ।[1] "वैराग्यं निर्वेद:" अर्थात् 'वैराग्य' ही 'निर्वेद' है । इसलिए 'तत्वज्ञान जन्यनिर्वेद' शान्त रस का स्थायी भाव है । (अभिनवभारती पृ० 623 पर) अभिनवगुप्त ने इस विषय पर विस्तृत व्याख्या इस प्रकार से स्वीकार किया है । 'तत्वज्ञान' ही 'मोक्ष' का साधन होता है, इसलिए उस को 'स्थायी' भाव स्वीकार

---

1. किञ्च तत्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं "निर्वेद" इति नाम कृतं स्यात् शम शान्तयो. पर्यायत्वं तु हास हास्याभ्यां व्याख्यातम् सिद्ध-साध्यते लौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेद: स्थायीति । पृ० 619 अभिनवभारती अभिनवगुप्त

करना उचित है । तत्वज्ञान'आत्मज्ञान'का ही नाम है, और इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान स्वीकार किया जाता है । इस रूप में आत्मा, अनात्मा (अर्थात् देहादि) से भिन्न होता है । उस आत्मा का ज्ञान आत्म साक्षात्कार अथवा तत्वज्ञान ही शान्त रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है । गुरु भट्टतौत ने इसका विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है, और आचार्य अभिनवगुप्त भी इस बात से सहमत हैं । (भगवद्गीता की व्याख्या में) विस्तार पूर्वक इसका निरूपण किया है । अतः ज्ञान'आनन्द'आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही यहाँ (शान्त रस में) स्थायी (भाव रूप) है ।[1] शान्त रस की परिभाषा तथा लक्षण आचार्यों ने भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है । आचार्य वाग्भट के अनुसार,"शान्त रस'सम्यक् ज्ञान'से उत्पन्न होता है । राग एवं द्वेष के परित्याग कर देने पर सम्यक् ज्ञान इस शान्त रस से समुत्पन्न होता है । "शम" को शान्त रस का'स्थायी भाव'स्वीकार किया है ।[2] आचार्य रुद्रट के अनुसार,"शान्त रस की प्रकृति (सांसारिक विषयों का सम्यक् ज्ञान

---

1. उच्यते—इह तत्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्वज्ञानं च नाम आत्मज्ञानमेव आत्मनश्च इन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्यैव ज्ञानम् । परो ह्येवमात्मा अनात्मनैव स्यात् विपञ्चितं चैतदस्मद्गुरुभि. । अस्माभिश्चान्यत्र वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्धः कृत. । तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्ध धर्मयोगी परिकल्पित विषयभोगरहितोऽत्र स्थायी । पृ0 623 अभिनवभारती-अभिनवगुप्त

2. सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निःस्पृहनायकः ।
रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ।।

5/32 वाग्भट

है । इसका नायक वैराग्यपूर्ण व्यक्ति स्वीकार किया गया है । तमोगुण और (सांसारिक मोह से दूर हो जाने के कारण विषय का सम्यक ज्ञान (उत्पन्न) होता है । जन्म, बुढ़ापा, मरण आदि से त्रास (सांसारिक) विषय में वैराग्य की भावना सुख और दु:ख की अनिच्छा अर्थात् समभाव और अद्वेष ये सब इस रस में स्वीकार किये गये है ।[1] आचार्य नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'शान्त' रस का लक्षण इस प्रकार किया है, "जन्म मरण (रूप संसार) से भय, वैराग्य (आत्मा परमात्मा आदि) तत्वों और शास्त्रादि के चिन्तन से उत्पन्न होने वाला रस शान्त स्वीकार किया है और क्षमा, ध्यान तथा उपकार के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।[2] देव मनुष्य-नारक या तिर्यक (पशु पक्षी आदि रूपों में घूमना (अर्थात् बार बार जन्म धारण करना) "संसार ~~कहलाता~~ है । उससे भय (शान्त का कारण होता है ।) विषयों से विमुखता 'वैराग्य' है । तत्व अर्थात् जीव और अजीव अथवा पाप और पुण्य आदि रूप तथा मोक्ष के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र का विचार करना, चित्त में बार-बार लाना इस प्रकार के विभावों से काम, क्रोध, मोह, अभिमान, माया आदि के सम्बन्ध से रहित विषयोन्मुखता से रहित अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप "शम" स्थायी भाव वाला शान्त (रस) से उत्पन्न होता

---

1. सम्यग्ज्ञान प्रकृति: शान्तो विगतेच्छानायको भवति
   सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् । ।15
   जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासना विषये
   सुखदु:खयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ।। ।16 रूद्रट-काव्यालंकार
2. संसारभय-वैराग्य-तत्व शास्त्र विमर्शनै: ।
   शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा ध्यानोपकारत: ।।
   20/122 नाट्य दर्पण (आचार्य-रामचन्द्र गुणचन्द्र)

डाट फटकार तर्जन बध बन्धन आदि को सहन करना "क्षमा" स्वीकार की जाती है। जीव-अजीव आदि तत्वों का विचार करना "ध्यान" कहलाता है। इससे अपने दृष्टिता आदि 'अनुभाव' सूचित होते हैं। 'निर्वेद' मति, स्मृति, धृति आदि इसके व्यभिचारी भाव है। धनंजय आदि आचार्यों ने इस शान्त रस को नहीं स्वीकार किया है। इनके अनुसार सम्पूर्ण क्लेशों से युक्त होने वाले मोक्ष रूप पुरूषार्थ से पराङ्‌मुखता होना ही दूषण है। इसलिए इनका मत उचित नहीं स्वीकार किया जाता है। अर्थात् अभिप्राय यह है, कि 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए 'शान्त रस' की स्थिति आवश्यक है। जो आचार्य-शान्त रस को नहीं स्वीकार करते इनके अनुसार 'मोक्ष' की सिद्धी का मार्ग ही बन्द हो जाता है, फिर मोक्ष की सिद्धी किस प्रकार से स्वीकार की जाय, इसलिए सम्पूर्ण पुरुषार्थ की सिद्धी-एकमात्र हेतु भूत 'शान्त' रस स्वीकार करना अनिवार्य है, ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय है। 20/122 नाट्य-दर्पण
आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पणकार के अनुसार "शान्त वह रस है, जो कि 'शम' रूप स्थायी भाव का आस्वाद स्वीकार किया   है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति है। इसका वर्ण "कुन्द श्वेत" अथवा "चन्द्र श्वेत" है, इसके देवता "नारायण" हैं। अनित्यता कि वा दुःखमया आदि के कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्म स्वरूप का ज्ञान ही इसका "आलम्बन" विभाव है। इसके उद्दीपन है, पवित्र आश्रम, भगवान की

की लीला भूमि, तीर्थस्थान, रम्य कानन, साधु सन्तों के स्ग आदि रोमाचादि इसके 'अनुभाव' है और इसके 'व्यभिचारी' भाव है, निर्वेद, हर्ष, स्मृति मति जीव दया आदि ।[1]

1• शान्त: शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मत. ।

कुन्देन्दुसुन्दरच्छाय: श्री नारायणदैवत: ।। 245

अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनि सारता तुया ।

परमात्मस्वरूपं वा तस्या लम्बनमिष्यते ।। 246

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थ रम्यवनादय: ।

महापुरुष सङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिण: ।। 247

रोमांचाद्यानुभावांस्तथा स्युर्व्यभिचारिण. ।

निर्वेद हर्ष स्मरणमति भूतदयादय: ।। 248

{आचार्य विश्वनाथ} - साहित्य दर्पण

रस का गुण से सम्बन्ध

रस का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य वाग्भट के अनुसार, "जिस प्रकार उत्तम रीति से पकाया हुआ भोजन भी नमक के बिना स्वादहीन रहता है, उसी प्रकार रसहीन काव्य भी अनास्वाद्य होता है।[1]" आचार्य वाग्भट ने रस का गुण से सम्बन्ध कहीं अलग से विवेचित नहीं किया है। अपितु दण्डी, वामन आदि आचार्यों की भाँति इन्होंने भी मधुर[2], कान्ति[3] आदि गुणों को रस युक्त स्वीकार किया है। अर्थात् इन गुणों में रस की प्रतीति होती है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श के गुणों में रस की स्थिति का संकेत सर्वप्रथम स्वीकार किया है। श्लेष आदि दस गुणों को जहाँ वैदर्भ मार्ग का प्राण स्वीकार किया है, उन्हीं दस में से अन्यतम गुण माधुर्य का विवेचन इस प्रकार से स्वीकार किया है --

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रस स्थित: ।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता: ।।

काव्यादर्श 1/51

---

1. साधुपाकेऽप्यनास्वाद्य भोज्य निर्लवणं यथा ।
   तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ।। 5/1 वाग्भट

2. सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।
   3/15 वाग्भट

3. यदुज्ज्वलत्व तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ।
   3/5 वाग्भट

माधुर्य गुण,रस से ओत-प्रोत कवि की वाणी तथा उन विषयों के वर्णन में स्वीकार किया गया है । जिससे सहृदय सामाजिक आनन्दित हो जाये जैसे वसन्त में भ्रमर उन्मत्त हो जाता है । इस प्रकार पद्य की भाषा एव उसके वर्ण्य विषय में रस की स्थिति जब पूर्ण रूप से हो, तो उसे"माधुर्य"गुण की सज्ञा दी गई है । यहाँ रस युक्त पद्य के प्रयोग होने से रस सामान्य को ग्रहण किया गया है ।

आचार्य वामनने"कान्ति" नामक अर्थगुण की परिभाषा को रसपरक स्वीकार किया है, "दीप्तरसत्व कान्तिः[1] ।" काव्य में जहाँ श्रृङ्गार आदि रस दीप्त हो, वहाँ 'कान्ति' नामक गुण स्वीकार किया है । रस के दीप्ति से तात्पर्य उसके स्फुट प्रतीति से है । आचार्य आनन्दवर्धन ने रस के सन्दर्भ में दीप्ति, द्रुति एव विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इन्हें चित्त से सम्बन्ध स्वीकार किया है । वीर, रौद्र एव भयानक रसों की अनुभूति सहृदय समाजिक के चित्त की दीप्ति के रूप में होती है, वहाँ ओज गुण रहता है[2] । उभयविध श्रृङ्गार एव करूण रसों में माधुर्यगुण स्वीकार किया है ।

---

1. काव्यालङ्कारसूत्र वृत्ति 3/2/14

2. रौद्रदयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ।।

ध्वन्यालोक 2/9

इसमें सहृदय का चित्त द्रवित हो उठता है। प्रसाद गुण का कार्य चित्त का विकास है, जो प्रायः सभी रसों में स्वीकार किया है।[1] आनन्दवर्धन ने श्रृङ्गार रस को मधुर गुण की संज्ञा प्रदान की है।[2] इस प्रकार रस को गुण के रूप में स्वीकार करने की परम्परा प्राचीन आचार्यों के समय में ही विद्यमान थी।

रस का अलङ्कार से सम्बन्ध

रस और अलङ्कार का सम्बन्ध अति महत्वपूर्ण विषय है, यद्यपि आचार्य वाग्भट ने इस विषय पर अन्यत्र विवेचन नहीं किया, किन्तु भामह, दण्डी एव उद्भट आदि आचार्यों ने रस और अलङ्कार के सम्बन्ध को इस प्रकार से स्वीकार किया है —

(क) रस—रसवद् अलङ्कार में (ख) भाव-प्रेयस्वद् अलङ्कार में (ग) रसाभास एवं भावाभास-- ऊर्जस्वित् एवं समाहित अलङ्कार में (घ) भावशान्ति - द्वितीय उदात्त अलङ्कारों के रूप में निरूपित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रसादि ध्वनि को रसवत् आदि अलङ्कारों से पृथक सिद्ध करते हुए यह स्वीकार किया है, कि अलङ्कार का आधार ही रसादि तत्वों में उत्कर्ष का आधान करना है। आचार्य मम्मट के अनुसार जहाँ रस प्रधान होता है, वहाँ इसकी संज्ञा रस है। जहाँ वह गौण अर्थात्

---

1. श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
   माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।।

   2/8 आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक

2. श्रृङ्गार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।

   2/7 आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक

अप्रधान होता है वहीं रसवद् आदि अलङ्कारों का विषय है। जिन्हें ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य स्वीकार किया गया है।[1] अलङ्कारवादी आचार्यों की कृतियों का अनुशीलन आनन्दवर्धन एवं मम्मट के उक्त विधान की पुष्टि नहीं स्वीकार करता उनके अनुसार तो रस का जिस रूप में भी निरूपण होगा वह सब रसवद् अलङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार किया जायेगा प्रथम आलङ्कारिक आचार्य भामह यह स्वीकार करते हैं —

"रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादि रसं यथा "

भामह–काव्यालङ्कार 3/6

जहाँ श्रृंगारादि रस का स्पष्टीकरण है, वहाँ रसवद् अलङ्कार स्वीकार किया है। रस की अप्रधानता का कारण उसकी अतिगूढ़ता या वस्तु अथवा अलङ्कारत्व की स्फुट प्रतीयमानता है। अतः इन स्थानों पर रस की प्रतीति शिथिल स्वीकार की जाती है। आचार्य दण्डी ने भी रस-पेशल वर्णन को रसवद्अलङ्कार की संज्ञा प्रदान की है।[2] रस की पेशलता उसकी अप्रधानता में कभी भी निहित नहीं हो सकती।

---

1. प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
   काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः

   आनन्दवर्धन-- ध्वन्यालोक 2/5

2. रसवद्रसपेशलम् । 2/275

   दण्डी–काव्यादर्श

अलङ्कारवादी आचार्यों के मूर्धन्य भट्टोद्भट ने भी रसवद् आदि के अलङ्कार होने का निरूपण अपनी कृति " काव्यालङ्कार-सार संग्रह में स्वीकार किया है। शृङ्गार आदि रसों का जहाँ स्पष्ट रूप से निदर्शन हो वहाँ रसवद् अलङ्कार स्वीकार किया है। इसकी स्पष्ट प्रतीति पाँच प्रकार से सम्भावित है-- स्वशब्द अर्थात् उसके लिए प्रयुक्त शृङ्गार आदि शब्दों से, रत्यादि स्थायि एवं निर्वेदादि संचारी भावों के द्वारा, आलम्बनोद्दीपन विभाव से तथा अभिनय से[1]। आचार्य आनन्दवर्धन ने रस का शृङ्गार आदि शब्दों से निरूपण सदोष स्वीकार करते हुए यह कथन किया है, कि स्व शब्द से निवेदित होने मात्र से रस की निष्पत्ति नहीं स्वीकार की जा सकती अपितु रस या शृङ्गारादि शब्दों के द्वारा अभिधान न होने पर भी विभावादि के संयोजन मात्र से रस की निष्पत्ति हो जाती है।[2] आचार्य मम्मट के अनुसार तो स्व शब्द से नहीं अपितु विभावादि का भी नामतः उपादान करने से काव्य के रसास्वाद में बाधा पहुँचती है। अतः इसकी गणना रस दोषों में स्वीकार किया है।[3]

---

1. रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्।
   स्वशब्दस्थायिसंचारि विभावाभिनयास्पदम्॥ 4/3
   उद्भट- काव्यालङ्कार सार संग्रह
2. नहि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि - - - - काव्ये
   मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति। 9/4
   ध्वन्यालोक-आनन्दवर्धन
3. व्यभिचारिरसस्थायिभावना शब्दवाच्यता।
   मम्मट- काव्यप्रकाश 6/60

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रस और अलङ्कार का संबंध स्वीकार किया जाता है। काव्य में जिस किसी भी प्रकार से चमत्कार का आधन होता है, वह सभी अलङ्कार स्वीकार किया गया है। अर्थात् अलङ्कारवादियों के अनुसार काव्य की शोभा के आधाय जितने भी तत्व हैं, वे सभी अलङ्कार हैं। अलङ्कार सौन्दर्य का पर्याय है। वामन के अनुसार सौन्दर्यमलङ्कार (काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति 1/1/2-वामन) आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार, "सहस्रशो हि महात्मभिरन्यै: अलङ्कारा: प्रकाशिता: प्रकाश्यन्ते च।[1] रस भी काव्य का एक महनीयतत्व है जिससे काव्य में चारुता का आधान होता है। अत: इसे अलङ्कार की संज्ञा से अभिहित करना सर्वथा समुचित है। यही कारण है कि अप्पय्य दीक्षित प्रभृति आचार्यों ने ध्वनि की सत्ता स्वीकार करते हुए भी रसवत् आदि अलङ्कार के रूप में ही निरूपण किया है। भोज ने अलङ्कार को तीन वर्गों में स्वीकार किया है। वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, रसोक्ति। जहाँ उपमा आदि की प्रधानता है वहाँ 'वक्रोक्ति' गुणप्रधान्य 'स्वभावोक्ति' तथा विभावअनुभाव आदि का प्रधान्य 'रसोक्ति' स्वीकार किया है।[2]

---

1. ध्वन्यालोक 1/1 पर वृत्ति

2. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरीति। तत्रोपमाद्यलङ्कार प्रधान्ये वक्रोक्तिः सोऽपि गुणप्रधान्ये स्वभावोक्तिः विभावानुभावव्यभिचारी संयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति ।। 7/371-72

शृंगार प्रकाश मद्रास मैनिस्क्रिप्ट

उपसंहार

"वाग्भटालङ्कार का आलोचनात्मक अध्ययन" करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचती हूँ, कि "वाग्भटालङ्कार" काव्यशास्त्र का एक पूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इसमें "वाग्भट प्रथम" ने अलङ्कारों का ही नहीं अपितु काव्य के प्रत्येक आवश्यक अङ्गों पर विचार किया है। 'प्रथम वाग्भट' प्रणीत "वाग्भटालङ्कार" ग्रन्थ के॰एम॰ सीरीज 1933 में "सिंहदेवगणि" की टीका सहित प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ विस्तृत विवेचनात्मक नहीं है। पाँच परिच्छेदों में विभक्त है तथा इस पर बहुत सी टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। यह लघुग्रन्थ होते हुए भी सारगर्भित है। इस ग्रन्थ में गुण,दोष,अलङ्कार,रीति एवं रस से सम्बन्धित सभी विषयों का स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है।

वाग्भटालङ्कार के रचयिता "वाग्भट प्रथम" के विषय में यह बात संदेहास्पद स्थिति को उत्पन्न करता है, कि "वाग्भट प्रथम" अन्य वाग्भट नाम के विद्वानों से पृथक हैं या एक ही वाग्भट ने "वाग्भटालङ्कार","काव्यानुशासन" "अष्टाङ्ग-हृदय" तथा 'नेमिनिर्वाण काव्य' इन सभी ग्रन्थों की रचना किया है। इस समस्या का निराकरण मैंने इनकी वंशपरम्परा,तिथि क्रम तथा अन्य साक्ष्यों और प्रमाणों द्वारा यह निर्धारित किया है, कि इन सभी ग्रन्थों के रचयिता एक वाग्भट नहीं है,अपितु भिन्न-भिन्न हैं। "वाग्भटालङ्कार" के रचयिता आचार्य "वाग्भट प्रथम" जैन मतानुयायी थे। इनके पिता का नाम "सोम था। आचार्य "वाग्भट द्वितीय" ने "वाग्भट प्रथम" के काव्य गुणों का उल्लेख अपनी "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ

मे इस प्रकार से किया है--"दाण्डय मनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्य गुणाः ।
वयं तु माधुर्योज: प्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान् मन्यामहे ।" {काव्यानुशासन पृ0 31.}
दण्डी, वामन आदि आचार्यों की भाँति "वाग्भट प्रथम" ने दस काव्य गुण को
स्वीकार किया है, किन्तु आचार्य "वाग्भट द्वितीय" ने माधुर्य, ओज और प्रसाद
नामक तीन गुण को स्वीकार किया है । "वाग्भट द्वितीय" के पिता का नाम
"नेमिकुमार" और माता का नाम महामही देवी "वसुन्धरा" था । "वाग्भट प्रथम"
ने "नेमिनिर्वाण काव्य" के छठें सर्ग से तीन पद्य कान्तारभूमौ, जुहुर्वसन्तो और
नेमिविशाल नयनों आदि 46,47, और 51 न० के पद्य "वाग्भटालङ्कार" में
"चतुर्थ परिच्छेद" के 34;39,और 32 नं० पर स्वीकार किये हैं अत: स्पष्ट है कि
"नेमिनिर्वाण काव्य" के कर्ता "कवि वाग्भट" "वाग्भटालङ्कार" के रचयिता से
पूर्ववर्ती हैं । "कवि वाग्भट" का समय 11वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया
गया है । इनका जन्म "अहिच्छत्रपुर" पिता का नाम "छाहड़" तथा कुल "प्राग्वाट"
"पोरवाड़" था । "आयुर्वेदशास्त्र" के लेखक "सिंहगुप्त" के पुत्र "वाग्भट" इन सबसे
भिन्न हैं । "वाग्भट प्रथम" हेमचन्द्र के समकालीन थे तथा अणहिल्ल-पट्टन के चालुक्य
"नरेश जयसिंह" सिद्धराज के संरक्षण में रहे । "जयसिंह" का समय 1093 से 1143 ई0
के बीच का है । "वाग्भटालङ्कार" ग्रन्थ में सिंहदेव गणि की टीका के अनुसार
चतुर्थ परिच्छेद के 147 वें श्लोक से स्पष्ट है, कि उपर्युक्त राजा के महामात्य थे
इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वाग्भट प्रथम 1123 ई0 तथा 1157 ई0
में जीवित थे ,। इस प्रकार वाग्भट का समय 12वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता
है और उनका काव्यालङ्कार ग्रन्थ 1125 से 1143 ई0 के बीच लिखा गया
सिंहदेवगणि के अतिरिक्त, जिनवर्धनसूरि, गणेश, क्षेमहंसगणि, राजहंसोपाध्याय आदि
की अनेक टीकायें इस पर उपलब्ध होती हैं । आचार्य वाग्भट प्रथम ने काव्यशास्त्रीय

विम्तन में आचार्य हेमचन्द्र की पद्धति का अनुगमन नहीं किया है । जबकि धार्मिक दृष्टि से ये दोनों एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी थे । वाग्भट प्रथम ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की अलङ्कार विषयक मान्यता को स्वीकार किया है । जैन आचार्यों में आचार्य "वाग्भट प्रथम" का स्थान श्रेष्ठ है ।

"वाग्भट प्रथम" ने चार प्रकार की भाषाओं में काव्यरचना को स्वीकार किया है- संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और भूत भाषा । किन्तु आचार्य भोज ने इन भाषा जातियों का उल्लेख "औचित्य" के आधार पर किया है—विषयौचित्य, वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य,देशौचित्य आदि । आचार्य वाग्भट ने "कीर्ति" को ही एक मात्र "काव्य का प्रयोजन" स्वीकार किया है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ।।

1/2 वाग्भट

किन्तु मम्मट आदि काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अधिभौतिक,आध्यात्मिक तथा मानसिक इन तीन प्रकार के सुखों का कारण काव्य को मानते है । इनके छः काव्य के प्रयोजन लोक प्रसिद्ध है- काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे ।।

मम्मट-काव्यप्रकाश-1/2

वामन ने "आनन्द" और "कीर्ति" को काव्य का प्रयोजन माना है तथा काव्य का "दृष्ट" प्रयोजन "आनन्द" है । और "अदृष्ट" प्रयोजन "कीर्ति" । अन्य भामह,वामन, दण्डी आदि आचार्यों ने इस कीर्ति और प्रीति शब्द की व्याख्या किया है, किन्तु वाग्भट ने इसका उल्लेख नहीं किया ।

संस्कृत आचार्यों ने काव्य-हेतु की चर्चा काव्य प्रयोजन के बाद किया है ।

जिन साधनों से कवि-कर्म में सफलता प्राप्त होती है, वे ही काव्य हेतु स्वीकार किये जाते हैं। आचार्य वाग्भट के अनुसार "प्रतिभा" काव्योत्पत्ति का हेतु है "व्युत्पत्ति" से उस काव्य में सुन्दरता की वृद्धि होती है तथा "अभ्यास" से शीघ्र ही रचना सम्भव होती है। काव्य-हेतु को आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने लोक, विद्या और प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य हेतु माना है। रूद्रट ने सुन्दर काव्य की रचना में नीरस अंश के त्याग और सरस अंश को ग्रहण करने के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को आवश्यक माना है। रूद्रट और मम्मट ने "प्रतिभा" को "शक्ति" स्वीकार किया है। अतः पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु स्वीकार करते हुए इन तीनों हेतुओं की अलग-अलग ढंग से व्याख्या किया है जिसका विस्तृत विवेचन मैंने शोध प्रबन्ध में किया है।

काव्य हेतु के पश्चात् आचार्य वाग्भट ने कवि-शिक्षा का विवेचन किया है। भारत, भामह, दण्डी, रूद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने इसका उल्लेख नहीं किया, किन्तु आचार्य राजशेखर ने "काव्यमीमांसा" में इसका विस्तृत विवेचन किया है। काव्याभ्यास किस प्रकार से करना चाहिए इस पर आचार्य वाग्भट का कथन महत्वपूर्ण है— संयुक्त वर्ण के पूर्ववर्ति लघ्वक्षर का गुरुवत् उच्चारण करना, विसर्गों का लोप न करना तथा श्रुतिकटुत्वादि दोषों को ला देने वाली सन्धि का परित्याग करते रहना, ये तीन उपाय हैं। जिनसे काव्य में बन्ध या सत्व लाया जा सकता है। आचार्य वाग्भट ने नवाभ्यासी कवि को विभिन्न प्रकार से शिक्षा दिया है, कि काव्य रचना के पूर्व किन बातों को ध्यान देना चाहिए तथा कवि को किस प्रकार से काव्य रचना करनी चाहिए- "कविता में भुवनों को तीन, सात अथवा चौदह संख्यक बताया है।

"यश को "शुभ्र" वर्ण तथा "अपयश" को श्यामवर्ण स्वीकार करना चाहिए । आचार्य राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा के 209 पृ0 पर इस प्रकार से उल्लेख किया है---- असतो गुणस्य निबन्धन यथा, यशोहासप्रभुते: शौकल्यम् अयशस: पापप्रभृते च कार्ष्ण्यं, क्रोधानुराग प्रभृतेश्च रक्तत्वम्/राजशेखर- काव्यमीमांसा

आचार्य वाग्भट के अनुसार यमक श्लेष और चित्रादि शब्दालङ्कारों में "ब" तथा "व" और "ड" तथा "ल" में भेद नहीं माना जाता अर्थात् "ब" तथा "व" और "ड" तथा "ल" समान स्वीकार किये जाते हैं । चित्र काव्य में अनुस्वार और विसर्ग के कारण कोई व्याघात नहीं पड़ता ।

यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ।। 1/20 वाग्भट

इसका विस्तृत विवेचन शोध प्रबन्ध में किया है । गुण सिद्धान्त के विषय में आचार्य वाग्भट ने प्राचीन आचार्यों के मतों का समर्थन किया है । भामह, दण्डी, वामन की भाँति आचार्य वाग्भट गुण को काव्य में शोभाधान करना तथा भावात्मक रूप माना है । वाग्भट के अनुसार "औचित्यादि" गुणों के बिना अनर्थकत्व,श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से रहित "शब्द" तथा "अर्थ" श्रेष्ठ नहीं स्वीकार किये जाते, उन गुणों का यथाशक्ति वर्णन किया है । आचार्य दण्डी ने काव्य में शोभा का आधान करने वाले सभी "धर्म" को "अलङ्कार" माना है तथा "श्लेषगुण" और"उपमादि" अलङ्कार दोनों ही दण्डी के अनुसार अलङ्कार शब्द से वाच्य है । आचार्य वाग्भट ने भरत और दण्डी की भाँति दस काव्य गुण को स्वीकार किया है तथा इन गुणों का लक्षण आचार्य वामन और दण्डी की भाँति माना है । वाग्भट के दस गुणों की संख्या इस प्रकार है--उदारता, समता, कान्ति, अर्थव्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता । किन्तु भामह, वाग्भट द्वितीय, मम्मट,

आनन्दवर्धन आदि आचार्यों ने तीन काव्य गुण स्वीकार किया है—माधुर्य, ओज और प्रसाद । इन आचार्यों ने इस गुण में दस काव्य गुण का अन्तर्भाव माना है । आचार्य वाग्भट ने काव्य में गुण को "मुख्य" तथा "रस" को "गौण" माना है । किन्तु ध्वनिवादी आचार्य मम्मट, आनन्दवर्धन आदि ने गुण का सम्बन्ध रस से स्वीकार किया है । "माधुर्य गुण" में "श्रृंगार" रस तथा "ओज और "प्रसाद" गुण में सभी रसों को माना है । इसके अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति एवं विकास की अवस्थाएँ हैं ।

आचार्य वाग्भट ने वाग्भटालङ्कार ग्रन्थ में गुण का सम्बन्ध "रीति" और "अलङ्कार" के साथ नहीं किया, किन्तु मैंने शोध प्रबन्ध में इस विषय का उल्लेख किया है । "ओज" गुण का लक्षण "गौडी" रीति के समान है, इसका कारण "समास" है अर्थात्, समास बहुला पदावली से "ओज गुण" उत्पन्न होता है तथा "गौडी रीति" समास बहुला होती है । "ओज" गुण का उदाहरण गद्य में है क्योंकि समास बहुला पदावली गद्य में ही शोभित होती है, पद्य में नहीं और यह गद्य का अवतरण पूरे वाग्भटालङ्कार ग्रंथ में एक मात्र है—

"समराजिर...दारनरेशकरिनिकरशिर:सरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवासणितकरतलो देव ।"

3/1 – वाग्भट

"अल्पसामासयुक्त" वैदर्भी रीति में सभी गुणों का समावेश है ।

"अर्थ व्यक्ति" गुण का लक्षण "स्वभावोक्ति" अलङ्कार के समान है तथा "समाधि" गुण का लक्षण "अतिशयोक्ति" अलङ्कार के समान है ।

आचार्य वाग्भट ने काव्य दोषों को तीन भागों में विभक्त किया है--पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष । पददोष है- अनर्थक श्रुतिकटु, व्याहतार्थ, अलक्षण, स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थ, अप्रसिद्ध, असम्मत और ग्राम्य ये आठ दोष जिस पद में हो उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए । किन्तु कहीं पर ये दोष नहीं माने जाते ।

अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् ।

स्वसङ्केतप्र- प्तार्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ।। 2/6

ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।।

क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ।। 2/7 वाग्भट

आचार्य "भरत" और "दण्डी" ने दस दोष, "भामह" ने 25 दोष, "वामन" ने 20 दोष, और "मम्मट" ने 70 दोषो का विवेचन किया है । आचार्य वाग्भट ने "नित्य" और "अनित्य" दोष को नहीं माना, कि कौन से दोष "नित्य" हैं । या "अनित्य" । जो सब जगह "दोष" नहीं रहते अपितु कहीं "गुण" बन जाते हैं, उनको "अनित्य" दोष कहा जाता है "श्रुतिकटुत्व" को मम्मट ने अनित्य दोष माना है ।। जो सदा दोष ही रहते हैं, उनको नित्य दोष कहा जाता है । "च्युतसंस्कार" आदि दोष को मम्मट ने नित्य दोष माना है । इस "नित्य", "अनित्य दोषों" की व्यवस्था रसापकर्षकत्व के आधार पर होती है । "पददोष" के पश्चात् वाग्भट ने "वाक्यदोष" को भी माना है ।। पदों से ही वाक्य की रचना होती है, अतः पद में रहने वाले दोष वाक्य के भी दोष हो सकते । वाग्भट के अनुसार ये नौ वाक्य दोष हैं- खण्डित, व्यस्तसम्बन्ध, असम्मित, अपक्रम, छन्दोभ्रष्ट, रीति भ्रष्ट, यतिभ्रष्ट, दुष्टवाक्यत्व और असत्क्रिया । इन दोषों को लक्षण और उदाहरण के द्वारा वाग्भट ने स्पष्ट किया है ।। इसके अतिरिक्त वाग्भट ने वाक्यार्थ दोषों का उल्लेख किया है । वाग्भट के अनुसार देश, काल,

शास्त्र अवस्था और द्रव्यादि के विरुद्ध अर्थ को प्रतिपादित करने वाले काव्य की रचना बिना किसी कारण विशेष के नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे भी काव्य दूषित हो जाता है। अत: इस प्रकार वाग्भट ने दोषयुक्त काव्य को महत्त्वपूर्ण नहीं माना क्योंकि दोषहीन "काव्य लोक में"यश" को देने वाला और परलोक में "स्वर्गपद" को प्राप्त कराने वाला होता है। किन्तु "दुष्ट काव्य से "अपयश" की प्राप्ति होती है।" आचार्य वामन ने यह स्वीकार किया है, कि काव्य में केवल "गुण और "अलङ्कार" के समावेश से ही सौन्दर्य की प्राप्ति नहीं होती, अपितु मुख्य रूप से"दोषदान" से भी होती है। " स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्–

1-1-3 का0सू0वृ0 वामन

आचार्य मम्मट ने वामन की धारणा को स्वीकार किया है। फिर भी कवि को यथा संभव काव्य दोषों से बचना चाहिए।

आचार्य वाग्भट ने अलङ्कार को काव्य में अतिमहत्त्वपूर्ण माना है। वाग्भट के अनुसार,"अनर्थकत्वादि दोषों से रहित और औदार्यादि गुणों से युक्त काव्य कान्ताकाय़वत् शोभित न होने के कारण त्याज्य होता है।" वाग्भट ने चार "शब्दालङ्कार तथा 35 "अर्थालङ्कार" स्वीकार किये हैं। वाग्भट ने प्राचीन आचार्यों की रचनाओं से 11 (ग्यारह) अर्थालङ्कार ग्रहण किया है। जो आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा अगृहीत है और हेमचन्द्र के द्वारा स्वीकृत निदर्शना, व्याजस्तुति, स्तुति, सम तथा कारणमाला इन पाँच अलङ्कारों का उल्लेख वाग्भट ने नहीं किया आचार्य वाग्भट प्रथम द्वारा स्वीकृत प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, विभावना, हेतु समाहित, यथासंख्य, अवसर, सार एकावली तथा प्रश्नोत्तर इन

।। अलङ्कारों का उल्लेख हेमचन्द्र ने नहीं किया है । वाग्भट प्रथम के अधिकांश अलङ्कारों का स्वरूप मम्मट तथा रुय्यक के मतानुसार अवश्य कल्पित है, किन्तु अधिकांश अलङ्कारों के रूप विधान में वाग्भट ने भरत, भामह, रुद्रट दण्डी आदि का सीधा प्रभाव ग्रहण किया है— "उपमा" के अनेकोपमेयमूला भेद "भरत" के आधार पर "हेतु", "समाहित" तथा तुल्योगिता" का स्वरूप "दण्डी" के आधार पर "अवसर" और समुच्चय का स्वरूप "रुद्रट" के आधार पर कल्पित है । अतः वाग्भट प्रथम ने "वाग्भटालङ्कार" में किसी नविन अलङ्कार की उद्भावना का प्रयास नहीं किया । पूर्व प्रतिपादित अलङ्कारों में ही कुछ को स्वीकार कर उनका लक्षण निरूपण किया है । आचार्य वाग्भट ने अलङ्कारों के भेद-प्रभेद करने में अन्य आचार्यों से आगे हैं । वाग्भट प्रथम ने "चित्रालङ्कार" के पांच भेद किये हैं- एकस्वरचित्र, मात्राच्युतचित्र, विन्दुच्युतचित्र, एकव्यञ्जनचित्र और व्यञ्जनच्युतचित्र । मम्मट आदि आचार्य ने चित्रालङ्कार को महत्वपूर्ण नहीं माना । वाग्भट ने "वक्रोक्ति" अलङ्कार के दो भेद माने हैं -

(1) सभङ्गश्लेष मूल वक्रोक्ति (2) अभङ्गश्लेषमूलवक्रोक्ति "अनुप्रास" अलङ्कार के दो भेद माने हैं - "छेकानुप्रास और "लाटानुप्रास" वाग्भट ने "यमक" अलङ्कार के 18 भेद स्वीकार किये तथा भरत ने 10 भेद और भामह ने पांच भेद किये हैं । वाग्भट ने "उपमा" के अनेक भेद किये है, तथा उपमागत दोष का उल्लेख भी किया है- उपमान एवं उपमेय का लिङ्गभेद, वचन भेद, उपमान का हीन होना तथा "उपमान का आधिक्य" ये चार दोष स्वीकार किये हैं । आचार्य भामह ने सात उपमा अलङ्कार के दोष माने हैं- हीनता, असम्भव, लिङ्गभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमाधिकता और असदृशता । वाग्भट के अनुसार "रूपक" अलङ्कार के भेद हैं— असमस्त पूर्ण रूपक, समस्त खण्डरूपक, असमस्त खण्डरूपक, समस्तखण्डरूपक "विरोध" के दो भेद— शब्दजन्य विरोध और अर्थ जन्य विरोध तथा "प्रश्नोत्तर अलङ्कार

तीन प्रकार का माना है- §1§ जहाँ उत्तर स्पष्ट हो §2§ जहाँ वह अस्पष्ट हो §3§ जहाँ स्पष्ट और अस्पष्ट उभयरूप हो । आचार्य वाग्भट ने रसवत् अलङ्कार को नहीं माना और न तो अलङ्कार का सम्बन्ध रस के साथ किया ।

आचार्य वाग्भट ने काव्य में दो प्रमुख रीति को स्वीकार किया है- §1§ वैदर्भी रीति §2§ गौडी रीति । "समास बहुला" "गौडी रीति" है तथा "अल्पसमासयुक्त" रचना को वैदर्भी रीति माना है ।

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे ।

एका भूय: समासा स्यादसमस्तपदापरा ।।

वाग्भट - 4/149

भामह और दण्डी ने वैदर्भी तथा गौडी रीति, वामन ने वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति माना है । रुद्रट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वैदर्भी गौडी, पाञ्चाली तथा लाटीया इन चार रीतियों को स्वीकार किया है और भोज ने छ: रीतियो को माना है । उद्भट और मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला को वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों का पर्याय स्वीकार किया है । वाग्भट, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने तो रीति को "गुणाश्रित" स्वीकार किया है अर्थात् रीति का गुण के साथ अटूट सम्बन्ध है । किन्तु मम्मट, आनन्द-वर्धन विश्वनाथ आदि ने रीति को "रसाश्रित" माना है । आचार्य आनन्दवर्धन ने रीति को "संघटना" नाम से अभिहित किया है । इसे समास से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किए हैं- असमासा, अल्पसमासा और दीर्घ समासा। आनन्द-वर्धन के अनुसार संघटना गुणों के आश्रित रह कर रस को व्यक्त करती है । आचार्य मम्मट ने नियत वर्णों के रस विषयक व्यापार को वृत्ति §रीति§ के रूप में स्वीकार किया है । गुण पर आश्रित रहकर ये रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं ।

"वैदर्भी"रीति "माधुर्य" गुण के व्यञ्जक वर्णों से युक्त होती है तथा"श्रृंगार" करुण" आदि कोमल रसों का उपकार करती है, मम्मट ने इसे "उपनागरिका वृत्ति" स्वीकार किया है । "वाग्भट" आदि के अनुसार यह "वैदर्भी" रीति है । "गौडी" रीति "ओज गुण" के व्यञ्जक वर्णों से युक्त होती है तथा रौद्र, वीर आदि "कठोर" रसों का उपकार करती है । मम्मट इसे "परुषा वृत्ति" मानते है और वाग्भट, दण्डी आदि आचार्यों ने "गौडी रीति मानी है । "पाञ्चाली" रीति "माधुर्य" और "ओज" गुण के व्यञ्जक वर्णों से युक्त होती तथा मम्मट ने इसे "कोमला" वृत्ति के रूप में माना है और वामन ने पाञ्चाली रीति माना है । आचार्य वाग्भट ने रीति के अतिरिक्त वृत्ति, प्रवृत्ति का विवेचन नहीं किया, किन्तु वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति सम्बन्धी मान्यताएँ एक दूसरे के बहुत निकट हैं, इसमें एक के भीतर दूसरे का अन्तर्भाव है, जिसका विवेचन शोध-प्रबन्ध में किया है ।

रस का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है । वाग्भट के अनुसार जिस प्रकार उत्तम रीति से पकाया हुआ "भोजन नमक के बिना स्वादहीन रहता है, उसी प्रकार रसहीन काव्य भी अनास्वाद्य होता है । आचार्य वाग्भट ने "नौ" रसों का [illegible] किया और इनके नौ स्थायी भावों को भी माना है— श्रृंगारवीर-करुणहास्याद्भुतभयानकाः । रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ।। 5/3

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधो[illegible] तथा ।

जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।।

वाग्भट- 5/4

किन्तु दण्डी ने कवि की वाणी को "अष्टरसायत्ता" का विशेषण स्वीकार किया है । आचार्य भरत ने "नाट्यशास्त्र" में रसों की कुल संख्या "आठ" मानी हैं-
"एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षण लक्षिता: ।" नाट्यशास्त्र- 6/83
आचार्य रूद्रट ने रसों की संख्या "दस" तथा मम्मट ने "नौ" माना है । रूद्रट के पूर्ववर्ती उद्भट काव्यालङ्कार सार संग्रह में "शान्त" सहित "नौ" रस के होने का विधान किया है । आचार्य वाग्भट ने विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और सात्विक भावों से परिपोष को प्राप्त करवाये गये "स्थायी" भावों को रस माना है इन विभाव, अनुभावादि की व्याख्या वाग्भट नहीं करते, किन्तु अन्य भरत, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने किया है । इसके पश्चात् "श्रृङ्गार रस" का विवेचन किया है । वाग्भट ने श्रृङ्गार के 2 भेद किये हैं – (1) संयोग श्रृङ्गार और (2) विप्रलम्भ श्रृङ्गार । नायक और नायिका के मिलन को "संयोग श्रृङ्गार" और उनके वियोग को "विप्रलम्भ" श्रृङ्गार माना है । तथा पुनः इसके 2 भेद किये हैं— "प्रच्छन्न औ "प्रकाश" दशरूपकार और शारदातनय को छोड़कर सभी आचार्यों ने श्रृङ्गार के 2 भेद किये है । "विप्रलम्भ-" श्रृङ्गार को वाग्भट ने चार प्रकार से माना है— पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करूणात्मक । इसमें क्रमशः पूर्व का वियोग उत्तरोत्तर से श्रेष्ठ स्वीकार किया है । किन्तु काव्यप्रकाश 4-29 वृत्ति में अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप से होने वाला पांच प्रकार का विप्रलम्भ श्रृङ्गार मम्मट ने माना है ।, ना० द० में मान, प्रवास, शाप, ईर्ष्या और विरह ये पांच भेद स्वीकार किये हैं । स [illegible] र ने चार प्रकार का विप्रलम्भ श्रृङ्गार माना है ।

आचार्य वाग्भट ने नायक के चार भेद इस प्रकार से किये हैं— अनुकूल नायक, दक्षिण नायक, शठ और धृष्ट नायक तथा अन्य आचार्यों में विश्वानाथ और धनञ्जय आदि ने इसके कई भेद और उपभेद किये हैं । [illegible] के अनुसार, धीरोदात्त, धीरललित, धी[illegible] ये चार प्रकार के नायक: दक्षिण नायक धृष्ट, अनुकूल और शठ नायक के रूपों में विभक्त होकर नायक के 16 भेद किये है तथा ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम आदि को लेकर कुल 48 भेद माने हैं । वाग्भट के अनुसार नायिकाएँ चार प्रकार की हैं- अनूढा, स्वकीया, परकीया और पराङ्गना किन्तु आचार्य धनञ्जय ने तीन प्रकार की नायिकाएँ स्वीकार की हैं - स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री । रूद्रट के अनुसार नायिका के 3 भेद सामाजिक बन्धन के आधार पर हैं । आत्मीया, परकीया और वेश्या । विश्वनाथ ने भी नायिका के 3 भेद किये हैं- §1§ स्वीया §2§ अन्या §3§ सामान्या । इन नायक-नायिकाओं का विस्तृत विवेचन शोध-प्रबन्ध में किया है । नायक-नायिका के बाद रसों का निरूपण किया है— वाग्भट के अनुसार "वीर" रस का स्थायी भाव "उत्साह" है "वीर रस" तीन प्रकार का होता है— धर्मवीर, युद्ध-वीर, और दान वीर । किन्तु विश्वनाथ के अनुसार इसका वर्ण "स्वर्ण§ और इसके देवता "महेन्द्र" है । इसके चार भेद किये हैं- §1§ दानवीर §2§ धर्मवीर §3§ युद्धवीर §4§ दयावीर वाग्भट के अनुसार "करुण रस" का स्थायी भाव " "शोक" है करुण रस को सभी रसों में प्रमुख स्थान देने का श्रेय किसी आचार्य को नहीं समीक्षक को नहीं अपितु एक "कवि" को दिया जाता है । "महाकवि भवभूति" को करुण का सर्वोत्कृष्ट कवि स्वीकार किया है । वाग्भट के अनुसार "हास्य" रस का स्थायी भाव हँसी है । हास्य के तीन भेद माने हैं-

§1§ सज्जनों की हँसी, §2§ मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की हँसी, §3§ नीच जनों का हास्य, जिसे "अट्टहास" कहते हैं । आचार्य विश्वनाथ ने इसका वर्ण "श्वेत" और अधिष्ठातृ देव "प्रथम गण माने हैं, तथा इसके 6 भेद स्पष्ट किये हैं--
§1§ उत्तम प्रकृतिगत "स्मित" हास्य §2§ उत्तम प्रकृतिगत "हसित"हास्य
§3§ मध्यम प्रकृतिगत "विहसित" हास्य §4§ मध्यम प्रकृतिगत "अवहसित" हास्य
§5§ अधम प्रकृतिगत अपहसित हास्य§6§ अधम प्रकृतिगत "अतिहसित"हास्य ।

वाग्भट के अनुसार "अद्भुत"रस का स्थायी भाव "आश्चर्य"है। यह किसी "असम्भव" वस्तु को देखने से उत्पन्न होता है । विश्वनाथ के अनुसार स्थायी भाव "विस्मय" है । इसका "वर्णपीत" तथा इसके देवता गान्धर्व है इसका आलम्बन अलौकिक वस्तु है। वाग्भट के अनुसार "भयानक"रस का स्थायी भाव "भय" है । यह भयङ्कर वस्तु को देखने से उत्पन्न होता है । इसका वर्णन प्राय: स्त्री, नीच जन और बालकों के सम्बन्ध में किया जाता है । विश्वनाथ ने इसका वर्ण "कृष्ण"तथा देवता "काल" माना है और नीच प्रकृति के लोगों में इसका आश्रय स्वीकार किया है

वाग्भट ने'रौद्र'रस का स्थायी भाव "क्रोध" माना है । जो शत्रु द्वारा तिरस्कृत होने पर उत्पन्न होता है । इसका नायक भीषण स्वभाव वाला "उग्र" और क्रोधी" स्वीकार किया है । आचार्य विश्वनाथ ने इसका स्थायी भाव क्रोध और वर्ण "रक्त" तथा देवता "रुद्र" स्वीकार किया है ।

वाग्भट ने "वीभत्स रस का स्थायी भाव" जुगुप्सा" मानते हैं । यह अग्राह्य वस्तुओं को देखने सुनने से उत्पन्न होता है । "थूकना' आदि इसके अनुभाव हैं, यह उत्तम जनों के सम्बन्ध में नहीं किया जाता । आचार्य विश्वनाथ ने इसका

वर्ण "नील" और देवता "महाकाल" तथा आलम्बन दुर्गन्धमय मांस रक्त मेद आदि स्वीकार किया है ।

शान्त रस "नवम" रस के रूप में अन्य रसों में अपना प्रमुख स्थान रखता है । "शान्त रस" की सत्ता स्वीकार करने तथा इसके स्थायी भाव और परिभाषा के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है । शान्त के प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक है । आचार्य वाग्भट ने "शम" को शान्त रस का स्थायी भाव माना है । इसका नायक निःस्पृह होता है । आचार्य मम्मट ने "शान्त " का स्थायी भाव "निर्वेद" और रुद्रट ने "सम्यक् ज्ञान" माना है । आचार्य विश्वनाथ के अनुसार शान्त रस का स्थायी भाव "शम" है । इसका वर्ण "कुन्द श्वेत" तथा "चन्द्रश्वेत" है इसके देवता "नारायण" है । अभिनवगुप्त ने "अभिनवभारती" में इसका विस्तृत विवेचन किया है, जिसका उल्लेख शोध प्रबन्ध में किया है ।

सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि "वाग्भटालङ्•कार ग्रन्थ" के रचयिता "प्रथम वाग्भट"है । इसमें वाग्भट ने अलङ्•कारों का ही नहीं अपितु काव्य के प्रत्येक आवश्यक अङ्•गों पर विचार किया है । अतः यह काव्यशास्त्र का एक पूर्ण प्रारम्भिक ग्रन्थ है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ

1. अभिनव भारती- आचार्य अभिनवगुप्त प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज दिल्ली -6 प्रथम संस्करण 1971

2. अलङ्कार सर्वस्व- आचार्य राजानक रुय्यक तिलक, महामहोपाध्याय, पं० दुर्गा प्रसाद एवम् पाण्डुरंग परब, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, वाराणसी सन् 1982 [जयरथ टीक सहित]

3. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति- आचार्य वामन, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, रामलाल पुरी आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6

4. काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति- आचार्य वामन, पं० केदार नाथ शर्मा, चौखम्बा अमर भारती, प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण वि० सं० 2034 [कामधेनु टीका सहित]

आचार्य रुद्रट डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन माडल टाउन दिल्ली 1, प्रथम संस्करण 1965 [नामिसाधु की टीका सहित]

6. काव्यमीमांसा- आचार्य राजशेखर, पं० केदार नाथ शर्मा सारस्वत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना-4 प्रथम संस्करण 2000 वि०सं०

7. काव्यालङ्कार सार संग्रह एवं लघु वृत्ति की व्याख्या- आचार्य उद्भट, डा० राममूर्ति त्रिपाठी, मोहन-लाल भट्ट, सचिव, प्रथम शासन निकाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्रथम संस्करण 1966

8. काव्यालङ्कार- आचार्य भामह, देवेन्द्र नाथ शर्मा, प्रकाशक- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

9. काव्यप्रकाश- आचार्य मम्मट व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, प्रकाशक ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960

10. काव्यादर्श- आचार्य दण्डी, धर्मेन्द्र कुमार गुप्ता प्रकाशक- मेहरचन्द लछमनदास 2736, कूचा चेलां, दरिया-गंज, दिल्ली 10006 प्रथम संस्करण 1973

11. काव्यानुशासन- हेमचन्द्र, आर, सी० पारिख, जैन विद्यालय बाम्बे, 1938

वाग्भट द्वितीय, काव्यमाला 43, शिवदत्त बाम्बे 1915

13• दशरूपक- धनंजय, प्रकाशक-रतिराम शास्त्री, अध्यक्ष साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ। दूर-भाष-77954

14• ध्वन्यालोक- आचार्य आनन्दवर्द्धन, आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-221001 तृतीय संस्करण 1982 (लोचन टीका सहित)

15• नाट्यदर्पण- रामचन्द्र-गुणचन्द्र, प्रधान सम्पादक डॉ० नगेन्द्र, प्रकाशक हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली

16• नाट्यशास्त्र- आचार्य भरत, प्रधान सम्पादक-डॉ० रविशंकर नागर सम्पादक कन्हैयालाल जोशी, परिमल प्रकाशन, 33/17 शक्ति नगर, दिल्ली 110007 प्रकाशन-7 B ज्योति पार्क सोसाइटी, शाह आलम, अहमदाबाद 380008, प्रथम संस्करण 1984

17• रसगंगाधर- आचार्य जगन्नाथ, पण्डित मदनमोहन झॉं, चौखम्बा विद्याभवन चौक, वाराणसी-221001, तृतीय संस्कर- 1983

18• वक्रोक्तिजीवित- आचार्य कुन्तक, श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, द्वितीय संस्करण 1977

19. वाग्भटालङ्कार- वाग्भट प्रथम, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 33, सिंह देवर्षि विरचित संस्कृत टीका, हिन्दी टीकाकार-डॉ0 सत्यव्रत सिंह एम0 ए0 प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन चौक वाराणसी

20. सरस्वतीकण्ठाभरण- आचार्य भोज, डॉ0 कामेश्वर नाथ मिश्र, चौखम्बा, ओरियन्टालिया, गोकुल भवन, के0 33/101, गोपाल लेन, प्रथम संस्करण 1976

21. साहित्य दर्पण- आचार्य विश्वनाथ, श्री युक्त हरिदास सिद्धान्त वागीश भट्टाचार्य संस्कृत बुक डिपो, प्रा0 लि0 28/1 विधान सरणी कलकत्ता 700006 पंचम संस्करण 1981

<u>हिन्दी-ग्रन्थ</u>

1. अलङ्कार, रीति और वक्रोक्ति- डॉ0 सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, झील दिल्ली 51, प्रथम संस्करण 1973

2. अलङ्कार मीमांसा- आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी, मोतीलाल बनारसी दास, बंगलोरोड, जवाहर नगर दिल्ली-7 प्रथम संस्करण 1965

3. अलङ्कार धारणा- विकास और विश्लेषण-डॉ0 शोभाकान्त मिश्र, प्रकाशक-बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, कदमकुआँ, पटना-3, प्रथम संस्करण मई 1972

अलङ्कारों का स्वरूप विकास- डा० ओमप्रकाश नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण 1973.

काव्याङ्ग विवेचन- डा० भागीरथ मिश्र तथा बलभद्र तिवारी प्रकाशक स्मृति प्रकाशन 124 शहरारबाग इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1976

काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन- डॉ० शम्भु नाथ पाण्डेय सरस्वती संवाद, मोती कटरा आगरा, प्रथम संस्करण 2017 वि सं०

काव्य शास्त्र-एक नव्य परिबोध- जयनारायण वर्मा, अभिनव प्रकाशन 21-ए अंसारी रोड नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 1977

काव्याङ्ग-प्रक्रिया- डा० शंकरदेव अवतरे, लिपि प्रकाशन, ई-10/4 कृष्ण नगर दिल्ली-110051 प्रथम 1977

काव्यांगिनी- डा० प्रेम प्रकाश गौतम, अरविन्द कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2 अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110006

काव्यरचना और काव्यास्वाद- डा० वेंकट शर्मा, रामलाल पुरी संचालक आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-11006

8· काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन- डा० शोभाकान्त मिश्र, प्रकाशक बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी सम्मेलन भवन, कदमकुआँ पटना-3 प्रथम संस्करण मई 1972

9· कवि और काव्यशास्त्र- डा० सुरेश चन्द्र पाण्डेय प्रकाशक- राका 40-ए मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद 211002 प्रथम संस्करण

10· जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 6, काव्य साहित्य- लेखक डा० गुलाब चन्द्र चौधरी, प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध-संस्थान, वाराणसी-5 सम्पादक- पं० दलसुख मालवणिया, डा० मोहन लाल मेहता

11· जैन धर्म का प्राचीन इतिहास द्वितीय भाग- लेखक परमानन्द शास्त्री प्रेरक-प्रमुख आचार्य श्री देवभूषण जी महराज, प्रकाशक-रमेशचन्द्र जैन 'मोटर वाले ।

12· भारतीय काव्य शास्त्र- डा० योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोक भारती प्रकाशन- 16-ए महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद प्रथम संस्करण-1985·

13· भारतीय काव्यशास्त्र शैली वैज्ञानिक संदृष्टि- डा० कृष्ण कुमार शर्मा अभिनव भारती, 42-सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद 211003

14. भारतीय साहित्यशास्त्र- गणेश त्र्यंबक पाण्डेय, ग० रा० भटकल, पॉप्युलर बुक डिपो, लैमिंग्टन रोड, बम्बई प्रथम संस्करण ।

15. भारतीय काव्य समीक्षा में

16. अलङ्कार सिद्धान्त- रेवा प्रसाद द्विवेदी च [illegible] विद्याभवन, पो० बा० नं० 69 वाराणसी- 221001, प्रथम संस्करण 1980

17. भारतीय काव्यशास्त्र- डॉ० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन दिल्ली संस्करण 1974

18. रस सिद्धान्त की प्रमुख समस्यायें- डा० सत्यदेव चौधरी, अलङ्कार प्रकाशन, झील दिल्ली-51, प्रथम संस्करण 1973

19. रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन- डा० गणपति चन्द्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागंज दिल्ली-6, प्रथम संस्करण-1971

20. रस सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष- डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, प्रकाशक-एस० बलवन्त अजन्ता पब्लिकेशन इण्डिया, दिल्ली-7 प्रथम संस्करण 1978

21. रीति काव्य की भूमिका- डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली छठा संस्करण 1969

22• वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना- रामनरेश वर्मा, प्रकाशक- ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी प्रथम संस्करण 2008 वि0

23• संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- डा0 एस0 के0 डे0, प्रथम व द्वितीय भाग बि हिन्दी ग्रंथ आकादमी, सम्मेलन भवन, पटना 80003 प्रथम संस्करण

24• संस्कृत आलोचना- बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान [illegible] पुरुषोत्तम दास टंडन, हिन्दी, भवन लखनऊ,तृतीय संस्करण 1978

25• संस्कृत समीक्षा की रूपरेखा- प्रताप नारायण टंडन, बम्बई दि बुक सेन्टर प्राइवेट लिमिटेड प्रथम संस्करण 1972

26• संस्कृत अलङ्•कार शास्त्र का समन्वित इतिहास- अनिरूद्ध जोशी, अजन्ता पब्लिकेशन्स [इण्डिया] जवाहरनगर, दिल्ली-7 प्रथम संस्करण 1984

27• संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- पी0 वी0 काणे, मोतीलाल बनारसीदास बंगलो रोड, जवाहरनगर दिल्ली, प्रथम संस्करण 1966

28• संस्कृत समीक्षा सिद्धान्त और प्रयोग- डा0 सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन 666 झील, दिल्ली-110051, संस्करण 1983